पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब

या

एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट

- **सनी सिंह**

अपनी आलोचना की पिछली दोनों किश्तों में हमने दिखलाया था कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय यानी पटना के दोन किहोते द्वारा अपने पिछले लेख में कुलक-धनी किसान आन्दोलन की पूंछ पकड़ने के प्रयास में न सिर्फ़ मार्क्सवाद की छिछली व बचकानी समझदारी का प्रदर्शन किया गया था बल्कि बौद्धिक बेईमानी का भी परिचय दिया गया था। पटना के दोन किहोते का लेख 'द टूथ' नामक पत्रिका के 11वें अंक में प्रकाशित हुआ था। अपनी इसी "समझदारी" के प्रदर्शन को बदस्तूर जारी रखते हुए लेखक महोदय ने लेख की अगली कड़ी में एक बार फिर अपने बौद्धिक बौनेपन का मुज़ाहिरा पेश किया है। उन्होंने हमारी पहली आलोचना के जवाब की अगली कड़ी व हमारे *रिजॉइंडर* के जवाब में दो पश्चलेख भी प्रकाशित किये हैं। ये लेख 'द टूथ' के 12वें अंक में प्रकाशित हुए हैं। ये लेख यहां पढ़े जा सकते हैं:
https://sarwahara.com/2021/04/11/apologists-are-just-short-of-saying-red-salute-to-corporates-2nd-instalment/?fbclid=IwAR0YdxIIgGOYlHPPKGXh-CJPEJgBXmPQgw7HP5usI3TZOckWRoxunYQFc9Y

हमारे द्वारा उनकी आलोचना की पिछली दो किश्तें यहां पढ़ी जा सकती हैं:
http://ahwanmag.com/archives/7714
http://ahwanmag.com/archives/7719

मास्टरजी ने अपने पिछले लेख में धनी किसान आन्दोलन को समर्थन देने के नाम पर तमाम कुतर्क गढ़े थे। बताते चलें कि धनी किसान आन्दोलन की एमएसपी की केन्द्रीय मांग को उन्होंने तमाम क़िस्म के बौद्धिक द्रविड़-प्राणायाम के उपरान्त पहले "व्यवस्था-विरोधी मांग" में तब्दील कर दिया था और फिर धनी किसानों की आय का समाजशास्त्रीय विश्लेषण कर उनके तथाकथित निचले संस्तरों को "सर्वहारा क्रान्ति के सहयोगी/मित्र" के रूप में पेश किया था। इसके लिए उनके द्वारा "अन्तर्य" और "खोल" का बोगस सिद्धान्त भी पेश किया गया था, जिसकी आलोचना हम अपने उपरोक्त सन्दर्भित लेखों में पेश कर चुके हैं। इसके आधार पर वह अपने लेख में यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे थे कि धनी किसानों की पूंछ पकड़ना कैसे "राजनीतिक" होता है!

अन्ततः उन्होंने समाजवादी राज्य में "उचित दाम" के अपने भ्रामक नारे को सही साबित करने के लिए सोवियत समाजवादी संक्रमण के दौर के पूरे इतिहास के साथ दुराचार किया। यह लेख उन्होंने हमारा जवाब देने के लिए कम बल्कि अपने कार्यकर्ताओं के सामने अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए अधिक लिखा था। लेकिन ऐसा हो नहीं पाया! इसके साथ ही इस लेख में इन जनाब की बौखलाहट भी खुलकर सामने आई थी जिसके चलते इन्होंने हमें "शिकारी", "कॉरपोरेट समर्थक", "मोदी भक्त", "ट्रॉल्स" आदि उपाधियों से नवाज़ा था और घटिया क़िस्म के स्तरहीन कुत्साप्रचार का सहारा लिया था और उसमें भी चौर्य-कला का प्रदर्शन ही किया था। यह सब करते हुए मास्टरजी ने एक बार फिर वैचारिक आलस्य और शिथिलता का ही परिचय दिया था।

'द टूथ' के 12वें अंक में प्रकाशित हुए नये लेखों में एक बार फिर हमारे दोन किहोते महोदय की अपरिमित मूर्खताएं, बातबदलूपन और बौखलाहट परवान चढ़ी हैं, जिनका जवाब हम एक साथ मौजूदा आलेख में दे रहे हैं। इन लेखों में से एक में पटना के दोन किहोते महोदय और हमारे मास्टरजी के "फ्रेंड, फिलॉस्फर और गाइड" यानी कि सोशल मीडिया की दुनिया के कुर्सीतोड़ "वामपंथी" पत्रकार महोदय ने पुराने लेखों

में परोसी गयी मूर्खता, बेईमानी और चौर्य-लेखन व चौर्य-चिन्तन की खिचड़ी को ऐतिहासिक प्रामाणिकता दिलाने की हास्यास्पद कोशिश की है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता दिलाने के इस भोंडे प्रयास में वह हमेशा की तरह इतिहास के साथ भयंकर दुराचार करते हैं।

वैसे अगर किसी को भारतीय समाज में मैकॉले की शिक्षा पद्धति के ख़राब परिणाम के साक्ष्य देखने हों तो उसका प्रामाणिक उदाहरण हमारे पटना के दोन किहोते महोदय हैं! यह इतिहास की उस त्रासदी का एक जीवित जीवाश्म है! ऊपर से तुर्रा यह कि यह मास्टरजी ठहरे! जब गुरू ऐसा है तो चेले-चपाटे कैसे होंगे इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, हालांकि उनकी कोई ग़लती नहीं है क्योंकि कोचिंग सेण्टर से "संगठन" की यात्रा के नतीजे ऐसे ही हो सकते थे। दरअसल, भारतीय समाज के पिछड़ेपन के चलते जितने बहुपरती बौने चरित्र यहाँ पैदा हुए हैं उसका एक जीवित उदाहरण हमारे पटना के दोन किहोते हैं। यह व्यक्ति कहने के लिए किसी संगठन का नेता है यह सोचकर ही भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की बौद्धिक कमज़ोरी का अहसास किया जा सकता है। मार्क्स ने बताया था कि इतिहास में घटनाएं और चरित्र पहली बार त्रासदी के रूप में और दूसरी बार प्रहसन के रूप में घटित होते हैं। इसका शानदार उदाहरण ब्रेष्ट का एण्टोनियो द्वारा सीज़र की हत्या पर दिये भाषण को फासीवादी हिटलर के किरदार आर्तुरो ऊई से बुलवाना है, जो मार्क्स की उपरोक्त उक्ति का ब्रेष्ट द्वारा अपने नाटक 'दि रेजिस्टिबल राइज़ ऑफ़ आर्तुरो उई' में किया गया एक शानदार प्रयोग है। हमारे पटना के दोन किहोते में भी लामांचा के दोन किहोते से लेकर गोरेन्फ्लो जैसी अतीत की कई आत्माएं जीवित हो उठती हैं और आँखों के सामने एक त्रासदीपूर्ण प्रहसन प्रस्तुत करती हैं।

लेकिन क्या करें कि मास्टरजी को दोन किहोते की उपाधि का व्यंग्य तक समझ नहीं आया है! वह झल्ला कर कह उठते हैं कि 'दोन किहोते के पास कम से कम आदर्श तो थे!' अब यही कहा जा सकता है कि मास्टरजी को किसी साहित्य के जानकार से साहित्यिक शैली और व्यंग्य समझने की एक-आध क्लास ले लेनी चाहिए थी न कि गूगल या विकीपीडिया का सहारा लेकर हमारी आलोचना लिखने बैठ जाना चाहिए था। सरवान्तेस का उपन्यास ही बीते युग के "आदर्शों" की अर्थी उठाने वाले दोन किहोते पर व्यंग्य है! दोन किहोते के आदर्शों की बात करना वस्तुत: दोन किहोते के चरित्र के ऐतिहासिक प्रहसन की ओर चिन्हित करना है! लेकिन *माटसाब* दोन किहोते के आदर्शों को भी कोई सकारात्मक चीज़ समझ बैठे हैं! क्या कह सकते हैं? मूर्ख होना एक चीज़ है और यह कोई अपराध भी नहीं है (!); लेकिन चौर्य-लेखन व चौर्य-चिन्तन करना, बातबदलू होना, झूठ व ग़लतबयानी पर उतर आना, ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बदसलूकी करना -- ये सभी निपट निम्नस्तरीय हरक़तें हैं जो हमारे मास्टरजी की चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं में शुमार हो चुकी हैं।

अपने सांचो पांज़ाओं की छोटी-सी बच्चा पार्टी के सामने अपनी इज़्ज़त बचाने का प्रयास करने के प्रयत्न में लिखा गया उनका मौजूदा लेख पुराने लेख से भी दो क़दम आगे है और उनके बौद्धिक बौनेपन के केंचुल नृत्य को एक नयी ही मंजिल में ले जाता है! इस लेख में भी वह सबसे पहले तो पुन: हमारी अवस्थितियों का पुतला खड़ाकर गुस्से के साथ उस पर टूट पड़ते हैं और इस चक्कर में कई दफ़ा अपना मानसिक संतुलन भी खो बैठते हैं।

दोन किहोते दि ला पटना गत्ते की तलवार हाथ में लिए अपनी लिल्ली घोड़ी पर सवार होकर इस बार फिर कई बौद्धिक करतब दिखाते हैं। वह बताते हैं कि हमारे (यानी 'आह्वान' के) अनुसार कॉरपोरेट यानी कि बड़ी इजारेदार पूंजी गांव के ग़रीबों को मुक्त करेगी (!!) और हम बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग को ग़रीब किसानों का मुक्तिदाता मानते हैं!! इसके बाद वह अक्तूबर क्रान्ति को गांव में *वर्ग संघर्ष रहित क्रान्ति* बताते हैं और साथ ही धनी किसानों को समाजवाद में दुश्मन वर्ग नहीं बताते हैं! ऐसे ग़ज़ब के कारनामे को अंजाम देने के लिए हमारे *माटसाब* लेनिन और स्तालिन द्वारा प्रयोग किये गए 'किसान बुर्जुआज़ी' (peasant bourgeoisie) शब्द का बिना अर्थ समझे हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण इस्तेमाल करते हैं और वर्ग की बुनियादी मार्क्सवादी परिभाषा का ही मखौल बना डालते हैं। *वह ऐसा इसलिए करते हैं ताकि आज धनी किसान वर्ग को 'किसान बुर्जआज़ी' क़रार देकर क्रान्ति का सहयोगी बता सकें, हालांकि लेनिन और स्तालिन के अनुसार, किसान बुर्जुआजी और कुछ नहीं बल्कि पूंजीवादी फार्मर के लिए लेनिन द्वारा प्रयुक्त शब्द है और वह समाजवादी क्रान्ति का मित्र वर्ग नहीं थी, जैसा कि हम आगे लेनिन के उद्धरणों से विस्तार में देखेंगे।*

कुलकों की गोद में बैठकर सर्वहारा क्रान्ति कर डालने को आतुर हमारे दोन किहोते महाशय क्रान्ति के चरण और वर्ग विश्लेषण को ताक पर रख साझा शत्रु के बरक्स "समूची किसान आबादी" को साथ लेकर समाजवादी क्रान्ति का सूत्रीकरण तक आनन-फानन में पेश कर डालते हैं।

यही नहीं, आगे तुलनात्मक पद्धति के ज़रिये वह इस "किसान बुर्जुआज़ी" को इजारेदार पूंजीपतियों के समक्ष "उत्पीड़ित" भी बताने का भी प्रयास करते हैं और उसके ग़म में रुदालियों की तरह छाती पीट-पीटकर अपनी छाती लाल कर डालते हैं!

रूसी क्रान्ति के इतिहास की ग़लत व्याख्या और उसके विषय में निपट अज्ञान के कारण आज के भारत से उसका सादृश्य निरूपण करते हुए *माटसाब* भारत में भी "समूची किसान आबादी" ("peasantry as a whole") और मज़दूर आबादी के साथ आने के अपने मूर्खतापूर्ण तर्क को सिद्ध करने का एक उतना ही मूर्खतापूर्ण प्रयास करते हैं। बताते चलें कि "समूची किसान आबादी" का यह जुमला इस बार हमारे मास्टरजी का प्रिय जुमला बना हुआ है। उपरोक्त प्रयास को सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय का लेख, जो पश्चलेख के रूप में 'दि ट्रूथ' के 12वें अंक में है, मुकाम पर पहुंचाता है। अपनी इस वर्ग सहयोग की अवधारणा को स्थापित करने और सही ठहराने के लिए वह वर्ग संघर्ष का सादृश्य निरूपण जीव जगत के बिम्ब से करते हैं और बताते हैं कि मगरमच्छ और शार्क के ख़िलाफ़ छोटी और बड़ी मछलियों को एक होना होगा! **इस पूरी बकवास में इन मूर्खों का यह समझ नहीं आता कि पूरी किसानी सर्वहारा वर्ग के साथ केवल और केवल जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने के लिए ही आ सकती है और रूस में अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद ऐसा ही हुआ था क्योंकि अक्तूबर क्रान्ति कृषि के मामले में एक रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम से आगे नहीं गयी थी और जैसे ही ग़रीब किसान समितियों का गठन हुआ, वे शत्रु वर्ग की श्रेणी में आ चुके थे। 1930-31 से पहले समाजवादी सामूहिकीकरण की भी शुरुआत नहीं हुई थी। नतीजतन, बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम की पूर्ति तक समूची किसान आबादी का साथ आना लाजिमी था और उसमें भी कुलक व धनी किसानों की अतिरिक्त ज़मीन का अधिग्रहण किया गया था, उनके उत्पादन के साधनों का अधिग्रहण किया गया था और उनके प्रतिक्रान्तिकारी प्रतिरोध को कुचला गया था, जैसा कि हम आगे देखेंगे।** लेकिन अगर इन बौद्धिक बौनों को लगता है कि भारत में आज समाजवादी क्रान्ति को कृषि में मूलत: जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे, जैसे कि अक्तूबर क्रान्ति को करने पड़े थे, तो उन्हें ऐसा लिखना चाहिए। लेकिन अधूरी और लूली-लंगड़ी ऐतिहासिक तुलना कर अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को सिद्ध करने का का प्रयास इन बौद्धिक जोकरों को और भी प्रहसनात्मक बना रहा है और यदि कुछ और नहीं कर रहा तो संजीदा मार्क्सवादियों का कुछ मनोरंजन अवश्य कर रहा है!

इस लेख में आगे हम विस्तारपूर्वक यह दिखाएंगे कि अपने पिछले लेख की ही तरह लेखक महोदय भोंड़ी समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के ज़रिये लाभकारी मूल्य का समर्थन कर धनी किसानों के आन्दोलन की पूंछ पर अपनी पकड़ मज़बूत बनाते जा रहे हैं। एमएसपी का समर्थन करने का एक और नायाब नुस्खा वह यह बताते हैं कि कॉरपोरेट पूँजी (यानी, बड़ी इजारेदार पूँजी) का 'ट्रिब्यूट' इतना अधिक होगा कि लाभकारी मूल्य के रूप में वसूला जाने वाला मौजूदा 'ट्रिब्यूट' अपने आप में जायज़ हो जाता है! **वैसे हमारे मास्टरजी को बताना चाहिए कि उन्हें यह इलहाम कब हुआ कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था वास्तव में धनी किसान-कुलक वर्ग को राज्य द्वारा सुनिश्चित किया जाने वाला बेशी मुनाफा या 'ट्रिब्यूट' है? *माटसाब* ने एक बार फिर चौर्य-चिंतन और चौर्य-लेखन का परिचय दिया है जिससे कि पाठक अब भली-भाँति वाकिफ़ हो चुके होंगे। इस बार उन्होंने हमारे ही लेख से चौर्य-लेखन किया है, जिसकी आलोचना लिखने का वह प्रयास कर रहे हैं! यह कैसी अश्लीलता है? *माटसाब* को कुछ तो मर्यादा रखनी चाहिए!**

हालांकि ऐसी तुलनाओं के ज़रिये ही यह महाशय कुलकों-धनी किसानों की पूंछ पकड़ते हैं और उनके द्वारा जारी श्रमशक्ति की लूट और अधिशेष विनियोजन में हिस्सेदारी को अतीत की बात बताते हैं! क्या ग़ज़ब खोज है! मतलब, आज कुलक व धनी किसान उजरती श्रम का शोषण कर मुनाफा नहीं पीट रहे हैं? ऐसी बात करने वालों को एक बार कान पकड़कर पंजाब और हरियाणा के गांवों में और पूरे भारत के ही अधिकांश हिस्सों के गांवों में घुमा देना चाहिए। यह इन बौद्धिक बौनों के मज़दूर वर्ग से विश्वासघात के अलावा और कुछ नहीं है। आगे हम दिखलाएंगे कि मास्टरजी को मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी नहीं पता है क्योंकि यदि सरकार द्वारा लाभकारी मूल्य, यानी इस ट्रिब्यूट, की व्यवस्था ख़त्म होती है, तो निजी इजारेदार पूंजीपति वर्ग कभी भी उस पर बेशी मुनाफा नहीं वसूलेगा, क्योंकि यहां हम मज़दूरी-उत्पादों (wage goods) की बात कर रहे हैं और उनमें भी सबसे महत्वपूर्ण मज़दूरी-उत्पाद, यानी खाद्यान्न की बात कर रहे हैं। **एक वर्ग के तौर पर पूंजीपति वर्ग कभी भी मज़दूरी-उत्पादों पर बेशी मुनाफे की व्यवस्था की हिमायत नहीं करता है, यह केवल और केवल खेतिहर बुर्जुआजी की ही मांग होती है।** इस पर आगे और तफ़सील से हम दिखलाएंगे कि मास्टरजी की 'कारपोरेट' द्वारा मज़दूरी-उत्पादों पर 'ट्रिब्यूट' लेने की सोच एक बार फिर यह प्रदर्शित करती है कि इस बौद्धिक बौने को मार्क्सवाद का इमला भी नहीं आता है।

इस आलेख में आगे हम एक बार फिर यह दिखाएंगे कि कैसे श्रीमान दोन किहोते महोदय हमारी अवस्थिति से नहीं बल्कि पवनचक्कियों से लड़ रहे हैं! *माटसाब* हमें बड़ी इजारेदार पूंजी का समर्थक क़रार देकर अपनी वैचारिक ग़लतियों और कुतर्कों को ढांपने का प्रयास करते हैं! साथ ही हम यह दिखाएंगे कि यह जनाब हम पर गालियों की बौछार कर किस तरह मक्कारी से अपनी अवस्थितियां बदलते हैं। यह बौद्धिक बौना अपने सांचो पांज़ाओं को भ्रमित करने के लिए यूं ही मार्क्स को विकृत करने का प्रयास करता है और अपनी बुखारिनपन्थी समझदारी के सवाल पर, समाजवादी समाज में श्रमशक्ति के माल होने के सवाल पर, "उचित दाम" के सवाल पर और साम्राज्यवाद के प्रश्न पर अश्लीलतम रूप से झूठ बोलता है और लफ्फाज़ी करता है और नये-नवेले राजनीतिक पतन जैसे कि त्रॉत्स्कीपंथ और काऊत्स्कीपंथ की गटरगंगा में स्नान करता नज़र आता है।

अंत में हम फिर से यह दिखाएंगे कि पूरी बहस में किस तरह पीआरसी के लेखक महोदय *गोल पोस्ट* शिफ़्ट कर रहे हैं और कई मुद्दों पर भद्द पिटने के बाद एकदम से सांप सूंघ जाने के अंदाज़ में सांस रोक कर चुप बैठ गए हैं! लेकिन हम ऐसे ही अपने *दोन किहोते दि ला पटना* को जाने ही थोड़े देंगे! इनकी तमाम सवालों पर मौक़ापरस्त चुप्पी की भी हम तफसील से आगे शिनाख्त करेंगे।

अब आइये, इन सभी सवालों पर इस बौद्धिक बौने की मनोरंजक लेकिन अश्लील उछल-कूद को करीबी से देखते हैं और सप्रमाण, ससन्दर्भ और सोदाहरण उनका असली चरित्र समझते हैं।

1. अक्तूबर क्रान्ति के इतिहास पर दोन किहोते का हमला व पुनःविकृतिकरण

'द ट्रूथ' के 11वें अंक में आये लेख में कुलक और धनी किसान वर्ग की गोद में बैठने के लिए पीआरसी के लेखक महोदय ने धनी किसानों और कुलकों के समक्ष भ्रामक "उचित दाम" का जुमला उछाला था जिससे धनी किसानों को लगे कि यह नारा उनकी फसल के लिए लाभकारी मूल्य के लिए है और वहीं दूसरी ओर खुद को क्रान्तिकारी दिखाने के लिए हमारे लेखक महोदय ने शर्मनाक कपटता से यह दावा किया था कि उन्होंने "उचित दाम" देने के साथ सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और समाजवाद की बात भी धनी किसानों को बताई है, लेकिन उन्होंने वास्तव में वायदा ही यह किया था कि जब *माटसाब* के नेतृत्व में समाजवाद आएगा तो सर्वहारा राज्यसत्ता कुलकों-धनी फार्मरों को लाभकारी मूल्य देगी! वह यहां तक पूछ बैठते हैं कि अगर सोवियत राज्यसत्ता ने किसानों को लागत से 30-40 प्रतिशत ऊंचा लाभकारी मूल्य न दिया होता तो उनके जीवन-स्तर में इतना सुधार कैसे आता! हम इस मूर्खतापूर्ण और अज्ञानतापूर्ण प्रश्न का जवाब अपनी आलोचना की पिछली किश्त में दे चुके हैं। ख़ैर, अब अपनी इस अवस्थिति को मास्टरजी इतिहास से प्रमाणित करने के एक और प्रयास का बीड़ा उठाते हैं और इस प्रयास में इतिहास पर गत्ते की तलवार भांजने लगते हैं। आइए, सिलसिलेवार तरीके से उनके (कु)तर्कों को समझने का प्रयास करते हैं, जोकि निश्चित ही एक कष्टदायी प्रक्रिया है और इसके लिए पाठकों से हमारी पूरी सहानुभूति भी है, लेकिन यह एक ज़रूरी काम है इसलिए इसे अंजाम देना ही होगा।

दोन किहोते महोदय का इतिहास पर पहला हमला: रूसी क्रान्ति और उसमें कृषि प्रश्न के समाधान के चरणों के इतिहास के विषय में पीआरसी के *माटसाब* द्वारा एक बार फिर से निपट अपढ़पन का प्रदर्शन

लेखक महोदय कहते हैं कि जब भी "समूची किसान आबादी" मज़दूर-मेहनतकश जनता के साझा शत्रु के खिलाफ़ आंदोलित हो उठती है तब मज़दूर वर्ग और "समूची किसान आबादी" के नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति हो सकती है तथा तात्कालिक तौर पर गाँवों में किसानों के बीच वर्ग संघर्ष *नहीं* छिड़ता है। वह लिखते हैं-

"A PROLETARIAN REVOLUTION WITHOUT CLASS STRUGGLE IN THE COUNTRYSIDE. IS IT POSSIBLE?

“Yes. We can so imagine and history testifies to it.

"...if a situation of deep-rooted turmoil is witnessed among the peasantry as whole against a common big enemy. In present day India, the ongoing historic movement of the peasantry directed against corporates offers such a possibility depending upon other favourable situations that may arise in future (if they are not present now). A plus point now is this that the peasantry is estranged against a class (corporates who *also* happen to be financial giants) who also happen to be an enemy of working class and toilers. It means that history may repeat itself depending upon some special factors attending at a given juncture in the light of the ongoing farmers movement, in the main depending upon the general correlation of all revolutionary forces as against the main enemy and a unique combination of all other revolutionary currents (one blowing among the peasantry is the main) with that of the most revolutionary class i.e. the working class and their together being directed against the common enemy, the corporates at the present moment." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, ‘The Truth’, Issue no. 12)

पहले तो *माटसाब* को यह बता देना चाहिए कि उनकी टूटी-फूटी और दरिद्र भाषा से अक्सर कुछ मतलब ही नहीं निकलता, लेकिन चूंकि उनकी मूर्खता की नस्ल से हम अब परिचित हो चुके हैं, इसलिए समझ लेते हैं कि इस बार वह कौन-सी मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं। लेकिन हम उन पाठकों से पूरी हमदर्दी रखते हैं, जो 'दि ट्रूथ' पढ़ने के लिए मजबूर किये जाते हैं।

बहरहाल, लेखक महोदय का उपरोक्त विश्लेषण वास्तव में ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी शिक्षा को भुलाने के समान है। यह क्रान्ति की मंज़िल व क्रान्ति के पथ का निर्धारण उत्पादन सम्बन्धों की पड़ताल व वर्ग संघर्ष की जगह निगमनात्मक सूत्रों से करना है। यहाँ मास्टरजी रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में हुई क्रान्ति के सन्दर्भ को ग़ायब कर जिस क़िस्म का सूत्र निकालते हैं वह एक यांत्रिक और अधिभूतवाद से ठस दिमाग का ही उत्पाद हो सकता है। वैसे इस प्रकार के बौद्धिक बौने से और उम्मीद भी क्या की जा सकती है? खैर, हम विस्तारपूर्वक इनके इस (कु) तर्क पर बात रखेंगे और दिखलाएंगे कि पीआरसी के लेखक को हमने बौद्धिक बौना क्यों कहा है।

पटना के दोन किहोते अपने मौजूदा लेख में बताते है कि रूस में जब समाजवादी क्रान्ति हुई तो मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में “समूची किसान आबादी” साथ आयी। लेकिन अक्तूबर क्रान्ति में समूची किसान आबादी सर्वहारा वर्ग के साथ क्यों आई थी इस ऐतिहासिक सन्दर्भ को हमारे *माटसाब* गोल कर देते हैं और अक्तूबर क्रान्ति के लिए गांवों में बने वर्ग संश्रय को आज के पूंजीवादी भारत और भारतीय समाजवादी क्रान्ति पर थोपने पर आमादा हो जाते हैं। **अक्तूबर 1917 में रूस में हुई क्रान्ति एक ऐसी समाजवादी क्रान्ति थी जिसमें विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के चलते ग्रामीण क्षेत्र में मुख्य रूप से जनवादी कार्यभारों को ही पूरा किया गया था। अक्तूबर 1917 में हुई रूसी समाजवादी क्रान्ति में रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को लागू किया गया जिसके पीछे तमाम वस्तुगत व मनोगत कारण मौजूद थे।** *परन्तु मास्टरजी इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को गोलकर जाते हैं और उपदेशात्मक शैली में बताते हैं कि आज भी ऐसी परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं और इतिहास ख़ुद को दोहरा सकता है।* आइए तत्कालीन रूस और आज के भारत की तुलना करके देखते हैं कि क्या आज यह सम्भव है?

रूस में प्रशियाई पथ से भूमि सुधार लागू हुए। इसकी शुरुआत 1860-61 में भूदास प्रथा के औपचारिक ख़ात्मे से हुई थी और 1907-08 के स्तोलिपिन सुधारों तक रूसी कृषि में पूँजीवादी विकास विचारणीय स्तर तक पहुँच चुका था। हालांकि अभी पूंजीवादी विकास के साथ बड़ी ज़मीन्दारी और सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध आंशिक रूप से क़ायम थे और अलग-अलग परिमाण में ग़रीब किसान आबादी की अस्वतन्त्रता भी अभी देखी जा सकती थी। रूसी क्रान्ति बेहद विशिष्ट परिस्थितियों में सम्पन्न हुई। प्रथम विश्वयुद्ध, आर्थिक विसंगठन और अकाल की परिस्थितियों और साथ ही सोवियत आन्दोलन के स्वतःस्फूर्त उभार के कारण पहले फरवरी 1917 में जनता के उभार ने ज़ार की सत्ता को उखाड़ फेंका और जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को पूरा करने की शुरुआत की। लेकिन क्रान्तिकारी शक्तियों की कमज़ोरी के कारण सत्ता सोवियतों के हाथ में नहीं आ सकी और बुर्जुआ आरज़ी सरकार और सोवियतों की सत्ता के रूप में एक 'दोहरी सत्ता' (dual power) अस्तित्व

में आई, जिसमें से आरज़ी सरकार बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जबकि सोवियत सत्ता मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का। बुर्जुआ आरज़ी सरकार में मुख्य शक्तियां बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ पार्टियां थीं, जिनमें कैडेट पार्टी जैसी पूंजीवादी पार्टी के अलावा, मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी (नरोदवादी) भी शामिल थे। इस आरज़ी सरकार ने युद्ध से मुक्ति, यानी शान्ति, रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार, और भूख और अकाल से मुक्ति का वायदा पूरा नहीं किया और संविधान सभा तक इंतज़ार करने का झुनझुना व्यापक किसान आबादी और मज़दूर व सैनिक आबादी को थमा दिया। इस मामले में सबसे बड़ा विश्वासघात समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने किया जो कि एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम पेश तो कर रही थी, लेकिन किसानों द्वारा उसे लागू किये जाने का विरोध कर रही थी। वहीं युद्ध में रूस की भागीदारी रूसी समाज और अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी साबित होती जा रही थी।

बोल्शेविकों का गांवों की ग़रीब और मंझोली किसान आबादी में राजनीतिक आधार बेहद सीमित था। किसान आबादी में सबसे ज़्यादा आधार समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का था और उसका कार्यक्रम एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार का था, जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है। 'अप्रैल थीसिस' में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूस फरवरी 1917 की जनवादी क्रान्ति के बाद अब समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, हालांकि इस क्रान्ति को कई जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे और पहला कार्य होगा 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' बढ़ाकर रूस को सिर पर खड़े आर्थिक विनाश और आपदा से बचाना। अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और समाजवाद की ओर कुछ आरंभिक कदम के साथ समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की शुरुआत भी कर सकती थी, अन्यथा उसका भी गला घोंट दिया जाना तय था, जैसा कि कोर्निलोव मसले से सिद्ध हो गया था।

इसी बीच दो स्वत:स्फूर्त आन्दोलन रूस में उभर चुके थे: पहला था समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी द्वारा बनाई गई भूमि समितियों का आन्दोलन जो कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के ही निर्देश का उल्लंघन करते हुए ज़मीन को भूस्वामियों से छीन रहा था और किसानों के बीच बांट रहा था; और दूसरा, कारखाना समिति आन्दोलन जो कि कारखानों पर कब्ज़ा कर रहा था। लेनिन ने इन दोनों ही आन्दोलनों को रूस की क्रान्ति की तात्विक शक्ति बताते हुए सहयोजित किया। लेनिन ने भूमि समितियों के आन्दोलन को साथ लेने के साथ समाजवादी-क्रान्तिकारियों का भूमि कार्यक्रम अपना लिया, जिसे कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी खुद ही लागू करने में आनाकानी कर रही थी और संविधान सभा का इन्तज़ार करने का आश्वासन किसानों को दे रही थी। लेनिन पर कुछ लोगों ने आरोप लगाया कि उन्होंने समाजवादी कृषि कार्यक्रम को छोड़कर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का बुर्जुआ कार्यक्रम अपना लिया। लेनिन ने इसका जवाब दिया कि रूस की आबादी का 85 प्रतिशत किसान हैं और 85 फीसदी आबादी पर समाजवादी भूमि कार्यक्रम थोपा नहीं जा सकता है; दूसरी बात, किसान आबादी में बोल्शेविकों का आधार बेहद कम है जिसके कारण आर्थिक वर्गीय विभेदीकरण के बावजूद ग़रीब व मंझोले किसान धनी किसानों के ही राजनीतिक नेतृत्व में हैं; तीसरी बात, किसानों में ज़मीन की भूख क्रमिक व अपूर्ण पूंजीवादी रूपान्तरण के कारण बनी हुई है और उनके जनवादी आन्दोलन को सहयोजित करके ही रूस की जनवादी क्रान्ति को भी हत्या से बचाया जा सकता है, पूर्णता तक पहुंचाया जा सकता है और समाजवादी क्रान्ति की शुरुआत की जा सकती है; चौथी बात, रूस के मेहनतकश किसानों द्वारा जो भूमि कार्यक्रम पेश किया जा रहा था वह बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम के दायरे में होने के बावजूद, बोल्शेविकों के भूमि कार्यक्रम के नज़दीक पड़ता था क्योंकि यह भूमि के राष्ट्रीकरण और उजरती श्रम पर रोक की मांग भी कर रहा था। लेनिन ने सितम्बर 1917 में रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपनाने की वजह बताते हुए लिखा:

党The first part of the summary is devoted to general political principles, to demands of political democracy; the second, to the land question...According to the summary, the peasant land demands are primarily abolition of private ownership of all types of land, including the peasants • lands, without compensation; transfer of lands on which high-standard scientific farming is practised to the state or the communes; confiscation of all livestock and implements on the confiscated lands (peasants with little land are excluded) and their transfer to the state or the communes; a ban on wage-labour; equalised distribution of land among the working people, with periodical redistributions, and so on. In the transition period, pending the convocation of the Constituent Assembly, the peasants demand the *immediate* enactment of laws prohibiting the purchase and sale of land, abolition of laws

concerning separation from the commune, farmsteads, etc., laws protecting forests, fisheries, etc., abolishing long-term and revising short-term leases, and so on. • (Lenin, **From a Publicist's Diary (workers and peasants)**, September 1917)

किसान मैण्डेटों द्वारा जो भूमि कार्यक्रम पारित हुआ, वह बुर्जुआ भूमि सुधार का भी सबसे रैडिकल स्वरूप था और साथ ही उसमें भूमि के राष्ट्रीकरण और उजरती श्रम पर रोक की भी मांग शामिल थी। रूस के मेहनतकश किसान इतने के लिए ही तैयार थे और बोल्शेविक पार्टी समाजवादी भूमि कार्यक्रम को 85 फीसदी जनता पर थोप नहीं सकती थी। **लिहाज़ा, लेनिन ने तत्काल इस कार्यक्रम को अपना लिया और इसे संविधान सभा का इन्तज़ार किये बिना लागू किये जाने के लिए हो रहे किसानों के स्वत:स्फूर्त आन्दोलन का समर्थन किया, जिससे समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी पलायन कर चुकी थी। नतीजतन, बोल्शेविक पार्टी इस आन्दोलन को जीतने में कामयाब रही और उसे साथ लेकर समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में कामयाब रही। लेकिन जहां तक कृषि क्षेत्र का सवाल है, अक्तूबर क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती है। और इस कार्यक्रम के अमल में भी कुलक व धनी किसान कम आए, जैसा कि हम आगे देखेंगे।**

संक्षेप में, बोल्शेविक पार्टी ने समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भूमि कार्यक्रम को अपनाया, जिसे कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी खुद भी लागू करने को तैयार नहीं थी, उसे सर्वाधिक रैडिकल स्वरूप देकर समाजवादी क्रान्ति के बाद लागू किया। **गांवों में बोल्शेविक समाजवादी क्रान्ति ने मूलत: और मुख्यत: रैडिकल जनवादी भूमि कार्यक्रम को लागू किया।** रूस में अक्तूबर 1917 में हुई समाजवादी क्रान्ति बेहद विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में सम्पन्न हुई और गांवों में यह मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभारों को ही रैडिकल तरीके से पूर्ण करने तक सीमित रही। आज हम पश्चदृष्टि में कह सकते हैं कि अगर ये विशिष्ट परिस्थितियां मौजूद न होतीं तो रूस में समाजवादी क्रान्ति के लिए क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ शायद कुछ दशक बाद पैदा हुई होतीं और उस सूरत में उसके पास पूरे करने को सम्भवत: उतने जनवादी कार्यभार न होते, जितने की अक्तूबर 1917 में थे। मार्क्सवादी पत्रिका 'दिशा संधान' में प्रकाशित सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास पर जारी श्रृंखला में अभिनव लिखते हैं कि

"रूस में कृषि के मुख्य और मूल रूप से पूँजीवादी स्वरूप अख्तियार करने के बावजूद किसान आबादी समाजवादी कार्यक्रम के लिए राजनीतिक तौर पर तैयार नहीं थी। इसके दो कारण थेः एक वस्तुगत और दूसरा मनोगत। वस्तुगत कारण का हम ज़िक्र कर चुके हैं। एक तो रूस में जो भूमि सुधार हुए थे, वे प्रशियाई पथ से हुए युंकर-शैली के भूमि सुधार थे, जो कि किसानों की ज़मीन की भूख को शान्त नहीं करते, बल्कि सामन्ती ज़मीन्दारों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील होने का अवसर देते हैं। इसके अलावा यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि ये प्रशियाई शैली के भूमि सुधार भी रूस में अभी परिपक्व नहीं हुए थे। दूसरा कारण मनोगत था और वह था रूसी किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का बेहद सीमित आधार। बोल्शेविक राजनीति और विचारों ने रूस के सर्वहारा वर्ग के उन्नततम हिस्से में अपना प्राधिकार क़ायम कर लिया था, लेकिन किसान आबादी में अभी भी नरोदवादियों के राजनीतिक वंशज, यानी कि समाजवादी-क्रान्तिकारियों का ही ज़्यादा आधार था। क्रान्ति के दौरान किसान आबादी कुछ सीमित प्रश्नों पर (भूमि क़ब्ज़ा करने और शान्ति के मुद्दे पर) बोल्शेविकों के साथ आई क्योंकि इन प्रश्नों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का ढुलमुल रवैया सामने आ गया था। लेकिन उस वक़्त भी किसानों की व्यापक बहुसंख्या समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर राज़ी नहीं थी। इन दोनों कारणों के चलते रूसी किसानों की आकांक्षाएँ अभी भी जनवादी थीं, समाजवादी नहीं। यही कारण है कि लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति से पहले रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपना लिया क्योंकि किसानों की बहुसंख्या अभी राजनीतिक तौर पर इसी कार्यक्रम के लिए तैयार थी, और इस बहुसंख्या पर समाजवादी कार्यक्रम थोपा नहीं जा सकता था। रूसी किसानी आर्थिक तौर पर पूँजीवादी सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर वस्तुगत और आत्मगत कारणों के चलते वह तैयार नहीं थी...दूसरी बात यह है कि सोवियत राज्यसत्ता के लिए एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम चयन का मसला नहीं था। एक अन्य पहलू जिसकी चर्चा करना ज़रूरी है, वह यह है कि उद्योग और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में सर्वहारा राज्यसत्ता ने शुरू से ही समाजवादी नीतियों को लागू करना शुरू कर दिया था। यह ज़रूर है कि गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर के कारण लेनिन ने जिस चरणबद्ध प्रक्रिया से इन समाजवादी नीतियों को लागू करने का प्रस्ताव रखा था, उस प्रक्रिया से ये नीतियाँ लागू नहीं हो सकीं। लेकिन इतना तय था कि बोल्शेविक सत्ता उद्योग, वित्त व

व्यापार के क्षेत्र में समाजवादी नीतियों को ही लागू कर रही थी। **जिन अपवादस्वरूप स्थितियों में रूसी क्रान्ति हुई थी, उनमें राजनीतिक तौर पर एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम ही लागू हो सकता था।"** (अभिनव, *सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ,* (तीसरी किस्त), **दिशा संधान, अंक-3**)

हम पाठकों से कहेंगे कि सोवियत समाजवादी प्रयोग पर जारी इस उपरोक्त श्रृंखला को ज़रूर पढ़ें जिसमें उस दौर की एक सांगोपांग तस्वीर सामने उभर कर आती है और साथ ही उस दौर में चल रही तमाम बहसों एवं इतिहास लेखन का भी एक आलोचनात्मक विश्लेषण सामने आता है। बताते चलें कि हमारे मास्टरजी ने अपने मौजूदा लेख में "धमकी" दी है कि आने वाले समय में वह इस श्रृंखला की आलोचना भी पेश करेंगे! हमें इसका इंतज़ार रहेगा। आख़िर अच्छा हास्य और कुछ ठहाके पैदा करने वाला "रचनाकर्म" (चौर्य लेखन या चिंतन नहीं!) किसे पसंद नहीं होगा!? कुछ नहीं तो मास्टरजी इतना योगदान तो कर ही सकते हैं! नहीं? ख़ैर, आगे बढ़ते हैं।

लेनिन ने बार-बार यह स्पष्ट किया था कि अक्तूबर क्रान्ति ने भूमि सम्बन्धों के क्षेत्र में जनवादी क्रान्ति को पूर्ण किया था, जिसमें कि समूची किसान आबादी को साथ लेना स्वाभाविक था, और उसके बाद ग़रीब किसानों, मंझोले किसानों को धनी फार्मरों व कुलकों से अलग कर समाजवादी क्रान्ति को भूमि सम्बन्धों के क्षेत्र में अंजाम दिया जाना था। लेनिन 'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की' में लिखते हैं:

"**Having completed the bourgeois-democratic revolution** in alliance with the peasants as a whole, the Russian proletariat finally passed on to the socialist revolution when it succeeded in **splitting the rural population, in winning over the rural proletarians and semi-proletarians, and in uniting them against the kulaks and the bourgeoisie, including the peasant bourgeoisie."** (Lenin, **The Proletarian Revolution and Renegade Kautsky**)

उपरोक्त उद्धरण से भी स्पष्ट है कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में धनी किसानों को वर्ग मित्र मानने की सोच लेनिन की कतई नहीं थी; यह पीआरसी के नेता महोदय के अर्द्धगंजत्व से पूर्ण गंजत्व की ओर जाती कुतर्क-पद्धति से पैदा हुआ कचरा है। उपरोक्त उद्धरण में यह भी स्पष्ट है कि 'किसान बुर्जुआजी' और कुछ नहीं बल्कि पूंजीवादी फार्मरों का वर्ग ही है, जो कि ग्रामीण बुर्जुआजी का ही एक अंग होता है। लेकिन इस मसले पर विस्तार से थोड़ा आगे लिखेंगे।

बहरहाल, जैसा कि उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है रूस में अक्तूबर 1917 में समाजवादी क्रान्ति ने गांवों में, यानी खेती के क्षेत्र में, मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूरे किये। **क्या पीआरसी के नेता महोदय का मानना है कि भारत की समाजवादी क्रान्ति को भी आज खेती में जनवादी कार्यभार पूरे करने हैं? क्या भारत की कुल आबादी में बहुसंख्या किसानों की है? आइये देखते हैं।**

भारत में किसानों की कुल आबादी 11.8 करोड़ है, जिसमें से धनी व उच्च मध्यम किसान (4 हेक्टेयर से अधिक भूमि वाले) मात्र 5-6 प्रतिशत हैं। 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन वाले किसान 92 प्रतिशत हैं और 1 हेक्टेयर से कम वाले किसान 72 प्रतिशत हैं, जिनकी स्थिति अब अर्द्धसर्वहारा की है और उनकी आय का मुख्य स्रोत अब खेती नहीं बल्कि मज़दूरी है। भारत में किसान आबादी का आकार और उसमें विभेदीकरण की स्थिति की अक्तूबर 1917 के रूस से कोई तुलना ही नहीं हो सकती है। मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूरा करना तो दूर, आज जनवादी क्रान्ति का कोई कार्यभार भूमि कार्यक्रम के मामले में भारतीय समाजवादी क्रान्ति को नहीं पूरा करना है। चूंकि चरण ही अलग है इसलिए "समूची किसान आबादी" का आज सर्वहारा वर्ग के साथ मोर्चा बनने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता है और बन ही नहीं सकता है। जो ऐसा मानता है, उसे नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम अपना लेना चाहिए। लेकिन पीआरसी के नेता महोदय की बुद्धि चुनौटी भर है और उसी के अनुसार उनकी कल्पना के मरियल खच्चर दौड़ते हैं। रूसी क्रान्ति के इतिहास के प्रति अपने निपट अज्ञान को इस बौद्धिक जोकर ने एक बार फिर से प्रदर्शित किया है।

आज़ादी के बाद से लेकर अब तक भारत में पूंजीवादी वर्ग सम्बन्ध बेहद स्पष्ट हो चुके हैं और प्रशियाई पथ के एक भारतीय संस्करण से हुए

भूमि सुधार भी पूर्णत: परिपक्व हो चुके हैं। रूस के मुक़ाबले भारत में वर्ग शक्तियों का संतुलन आज सर्वहारा क्रान्ति के कहीं ज़्यादा अनुकूल है। जनसांख्यिकी के लिहाज़ से भी आज भारत की कार्यशक्ति में 50 करोड़ से अधिक सर्वहारा आबादी है, जिनमें खेतिहर मज़दूर 14 करोड़ के करीब हैं और बाकी गैर-खेतिहर ग्रामीण व शहरी सर्वहारा हैं। **इन आंकड़ों की एक शताब्दी पहले के रूस से कोई तुलना ही संभव नहीं है।**

भारत में आज समाजवादी क्रान्ति को गांवों में जनवादी भूमि कार्यक्रम लागू करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारत में समाजवादी क्रान्ति आज गांवों में धनी व उच्च मध्यम पूंजीवादी फार्मरों व कुलकों की ज़मीनों को ज़ब्त कर भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की वर्ग शक्ति के बूते राजकीय व सामूहिक फार्मों की बड़े पैमाने पर स्थापना करने के कार्य को सीधे हाथ में लेगी, ग़रीब किसानों व निम्न मध्यम किसानों को (जो कि पहले ही कहीं ज़्यादा विकसित विभेदीकरण व पूंजीवादी विकास के कारण अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुके हैं) आज सहकारी व सामूहिक फार्मों की साझी खेती के लिए तैयार करना कहीं ज़्यादा आसान है, क्योंकि उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियां पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के मातहत परिपक्व हो चुकी हैं और देख चुकी हैं कि छोटी जोत की किसानी का कोई भविष्य नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से लेकर तमाम आंकड़ों व सर्वेक्षणों में यह बात सामने आ चुकी है कि किसान आबादी का बहुलांश पक्के रोज़गार की आकांक्षा रखता है और पहला मौका मिलते छोटी जोत की खेती को छोड़ देना चाहता है। जाहिर है कि जब तक रोज़गार का विकल्प उसके पास नहीं होगा, तब तक इस छोटी जोत से चिपके रहना उसकी बाध्यता बनी रहेगी, लेकिन यह भी साफ़ है कि ग़रीब मेहनतकश किसानों के समूचे वर्ग की इच्छा और आकांक्षा आज क्या है।

संक्षेप में, आज भारत की समाजवादी क्रान्ति को समूची किसान आबादी को साथ लेकर मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूर्ण नहीं करने हैं। रूसी क्रान्ति को विशिष्ट परिस्थितियों में जिन ऐतिहासिक सीमाओं का सामना करना पड़ा था, आज की नयी समाजवादी क्रान्तियों को उन सीमाओं का सामना नहीं करना है, हालांकि उनके सामने अलग राजनीतिक चुनौतियां हैं, जिन पर हम यहां विस्तार में नहीं जा सकते। **लेकिन *माटसाब* को बहस में हुई रगड़ाई के कारण अपनी पूंछ बचानी थी, इसलिए जल्दबाज़ी में उन्होंने बिना जांच-पड़ताल किये, बिना इतिहास का कोई संजीदा अध्ययन किये, कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ दिया है। इसे बौद्धिक बौनापन ही कहा जा सकता है।**

दूसरी बात यह कि बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग और कुलक-धनी किसान वर्ग के बीच मित्रतापूर्ण अन्तरविरोध है, शत्रुतापूर्ण नहीं। यह उम्मीद करना कि उनके बीच अन्तरविरोध के तीखे होने की वजह से अपेक्षाकृत छोटी पूंजी का यह हिस्सा सर्वहारा वर्ग के साथ खड़ा होगा, वर्ग सहयोगवाद की कार्यदिशा है। ऐसा हो भी नहीं रहा है जैसा कि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के अभी तक के विकास-क्रम से साफ़ भी हो चुका है। इस लाइन के तहत तो पीआरसी के लेखक महोदय को दिल्ली में मायापुरी के छोटे फैक्ट्री मालिकों और पटना के भवन निर्माण ठेकेदारों को भी बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश से बचाने का ऐलान कर देना चाहिए और उनसे सर्वहारा क्रान्ति के लिए वर्ग मोर्चा बना लेना चाहिए! पूंजीपति वर्ग के किसी भी छोटे हिस्से और खेतिहर बुर्जुआजी के बीच कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। दोनों ही बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश के कारण बरबादी का ख़तरा झेल रहे हैं। **तो फिर *माटसाब* छोटे कारखाना मालिकों, ठेकेदारों, व्यापारियों के साथ पक्षपात क्यों कर रहे हैं? उन्हें जल्द से जल्द सर्वहारा क्रान्ति करने के लिए पटना के लघु उद्यमी संघ के अध्यक्ष या सचिव का चुनाव लड़ना चाहिए! प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के ख़िलाफ़ भी मास्टरजी को दिल्ली से पटना तक के व्यापारियों के साथ वर्ग मोर्चा स्थापित करना चाहिए जोकि बड़ी पूँजी द्वारा सताए हुए हैं। पटना के दोन किहोते अपेक्षाकृत छोटे खेतिहर पूंजीपति वर्ग पर जो फार्मुला लागू कर रहे हैं, उसे पूरे पूंजीपति वर्ग पर क्यों लागू नहीं किया जाना चाहिए?** उनके अनुसार, "बेहद, बेहद धनी किसानों" व कारपोरेटों से मोर्चा नहीं बनेगा लेकिन अन्य धनी किसानों, यानी अपेक्षाकृत छोटी बुर्जुआजी से बड़ी बुर्जुआजी के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का मोर्चा बनेगा! वैसे तो अति-अति धनी किसान भी मौजूदा आन्दोलन में कारपोरेट के खिलाफ शामिल है। इसलिए *माटसाब* उनको क्यों *सिंगल आउट* कर रहे हैं, यह समझ से परे है। **खैर, फिर बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश से उजड़ रहे छोटे कारखाना मालिक, दुकानदारों-व्यापारियों, ठेकेदारों, दलालों से भी पीआरसी सीपीआई (एमएल) को मोर्चा क्यों नहीं बनाना चाहिए? आप देख सकते हैं कि इस प्रकार की कार्यदिशा कहां जाती है। यह सीधे-सीधे वर्ग सहयोगवाद और वर्ग आत्मसमर्पणवाद के मलकुण्ड में जाकर गिरती है और वास्तव में यह बौद्धिक मस्खरा उसी मलकुण्ड में छप-छप कर रहा है।**

मास्टरजी का इतिहास पर दूसरा हमला: 'किसान बुर्जुआजी पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है!'

मास्टरजी ने यहां एक नायाब खोज की है! जनाब बताते हैं कि लेनिन और स्तालिन के अनुसार धनी किसान, बड़ा किसान और कुलक दरअसल 'किसान बुर्जआज़ी' की श्रेणी में आते हैं और यह पूंजीपति वर्ग नहीं है! साथ ही ये समाजवादी क्रान्ति में हमारे समर्थक बन सकते हैं बशर्ते कि वे समाजवादी नीतियों का विरोध न करें! देखें मास्टर साहब क्या लिखते हैं-

"Lenin and the Bolshevik didn't waver on this point only because they had well studied and were well in control of the teachings of Marx and Engels on the question of attitude of communists towards different sections of peasants. They knew peasant bourgeoisie and rural capitalists were not the same thing otherwise they wouldn't have gone for a proletarian revolution with the peasantry as whole on its side as capitalists were all expropriated." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

पटना के दोन किहोते महाशय यह "तर्क" वास्तव में धनी किसानों और कुलकों के वर्ग को समाजवादी क्रान्ति का सहयोगी वर्ग बताने की मंशा से ढूँढकर लाये हैं। उनके अनुसार भारत में धनी किसान और कुलक (एक छोटे से ऊपरी हिस्से का छोड़कर) दरअसल 'किसान बुर्जुआज़ी' है जो आज बड़े इजारेदार पूंजीपतियों के खिलाफ़ एकजुट हैं और सर्वहारा वर्ग के मित्र हैं! वैसे तो सच्चाई यह है कि कुलक-फार्मर वर्ग के सबसे ऊंचे हिस्से भी इस समय लाभकारी मूल्य को बचाने के लिए कारपोरेट पूंजी के खिलाफ आन्दोलन में शामिल हैं, लेकिन *माटसाब* को सच्चाइयों से क्या मतलब? वह बताते हैं कि भारत में धनी किसान आन्दोलन इतिहास को रूस की तरह की स्थिति में धकेल सकता है। धनी किसानों के खेतों में लगी हौदी में कूदकर उसे समन्दर बताने वाले पटना के हमारे दोन किहोते ही हो सकते हैं! वह लेनिन को उद्धृत कर बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' और अमीर किसान समानार्थी हैं और जिसका अर्थ बुर्जुआ वर्ग नहीं है-

"In October we confined ourselves to sweeping away at one blow the age-old enemy of the peasants, the feudal landowner, the big landed proprietor. This was a struggle in which all the peasants joined. At this stage the peasants were not yet divided into proletarians, semi-proletarians, poor peasants and *bourgeoisie.*" (Lenin, **Proletarian Revolution and Renegade Kautsky**)

अब क्या कहा जाय? लेनिन यहां खुद ही बता रहे हैं कि समूची किसान आबादी का मोर्चा केवल एक ही शत्रु के विरुद्ध बन सकता है: सामन्ती भूस्वामी वर्ग। क्या आज भारत में किसी सामन्ती भूस्वामी वर्ग के विरुद्ध मोर्चा बनाना है? आगे लेनिन खुद ही ग्रामीण आबादी के प्रमुख हिस्सों, यानी, खेतिहर सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा, ग़रीब किसान और पूंजीपति वर्ग (पूंजीवादी किसान या 'किसान बुर्जुआजी') की बात की है। लेकिन समूचे किसानों का मोर्चा ठीक इसलिए बना क्योंकि उस समय शत्रु सामन्ती भूस्वामी वर्ग था। किसी भी बड़े शत्रु के समक्ष समूची किसान आबादी नहीं एकजुट होती है। उस बड़े शत्रु का वर्ग चरित्र क्या है, इससे तय होता है कि समूची किसान आबादी उसके विरुद्ध एकजुट होगी या नहीं। बहरहाल, इतना स्पष्ट है कि समूची किसान आबादी केवल सामन्तवाद के विरुद्ध ही एकजुट हो सकती है। क्या भारत में आज ऐसी स्थिति है? अगर है, तो पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतृत्व को दुम दबाकर इस बिल से उस बिल में नहीं भागना चाहिए और खुल कर लिखना चाहिए कि वह जहां से आए हैं, वहीं वापस जा रहे हैं, यानी नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर, या फिर उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए कि अक्तूबर क्रान्ति के ही समान आज के भारत में भी समाजवादी क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने तक सीमित रहेगी, जिसका निशाना सामन्ती भूस्वामी वर्ग था।

इस उद्धरण के बाद मास्टरजी यह लिखते हैं:

"For the bourgeosie in above mentioned quote he explains that This word is however not a synonym of rural

bourgeoisie. He means here peasant bourgeoisie. We will see that Lenin used the word 'rich peasant' not for bourgeoisie, though rural bourgeoisie develop from rich peasants. Stalin writes in HCPSU about it. He says – "From among the more well-to-do peasants there was emerging an upper layer of kulaks, the rural bourgeoisie." It means rural bourgeoise was constituted of the upper layer of kulaks. Stalin once again writes – "This peasant bourgeoisie was growing rich …. developing into rural capitalists". Here also, he differentiates between the two. (p.6, HCPSU, bold ours)

"Even in respect of the rich peasants we do not say as resolutely as we do of the bourgeoisie (Here it is clear that Lenin didn't consider the rich peasants per se as bourgeoisie.)" (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

हम आगे दिखाएंगे कि मास्टरजी की यह "ऐतिहासिक" खोज कोरी बकवास है और लेनिन व स्तालिन ने ऐसी कोई अवधारणा नहीं पेश की है। यह *माटसाब* द्वारा लेनिन और स्तालिन के लेखन का विकृतिकरण मात्र है। 'खाते-पीते किसान' (well-to-do peasants) स्वयं अनिवार्यत: पूंजीवादी किसान नहीं होते हैं, यह सभी जानते हैं और एंगेल्स ने भी स्पष्ट किया है। लेकिन हमारे देश के धनी फार्मर-कुलक महज़ एंगेल्स वाले 'बड़े किसान' या 'खाते-पीते किसान' मात्र नहीं हैं, जिनके पास बड़े प्लॉट व अधिक संसाधन हैं लेकिन जो अभी उपयुक्त रूप में पूंजीवादी उत्पादन नहीं कर रहे हैं। हमारे देश के धनी फार्मर व कुलक बाकायदा पूंजीवादी किसान हैं, जोकि न सिर्फ नियमित तौर पर उजरती श्रम का शोषण करते हैं, बल्कि मुनाफे को अधिकतम बनाने के मकसद से विनियोजित बेशी मूल्य को पूंजी में रूपान्तरित कर पूंजी संचय करते हैं, विस्तारित पुनरुत्पादन करते हैं, अपनी पूंजी का वैविध्यकरण कर उसे सूद पर चलाते हैं, अन्य आर्थिक गतिविधियों में लगाते हैं, ज़मीनें ख़रीदते हैं, वाणिज्यिक उपक्रमों में लगाते हैं। ये सामान्य माल उत्पादन में लगे बड़े प्लॉटों वाले बड़े किसान या खाते-पीते किसान मात्र नहीं हैं, जिनकी चर्चा एंगेल्स ने 'फ्रांस और जर्मनी में किसान प्रश्न' में की है या स्तालिन ने 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में की है।

ये बड़े किसान या खाते-पीते किसान ही 'किसान बुर्जुआजी' नहीं हैं। 'किसान बुर्जुआजी' और कुछ नहीं बल्कि उद्यमी पूंजीवादी किसान ही है और ग्रामीण बुर्जुआजी का एक हिस्सा ही है, जैसा कि हम आगे लेनिन के सन्दर्भ से सोदाहरण व सप्रमाण देखेंगे। साथ ही, स्तालिन उपरोक्त उद्धरण में *कुलकों की ऊपरी सतह* की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि *खाते-पीते किसानों की उस ऊपरी सतह की बात कर रहे हैं, जिन्हें हम कुलक या पूंजीवादी फार्मर कहते हैं* और जो खाते-पीते किसानों के बीच से उभरते हैं। लेकिन कोई भी पाठक मास्टरजी की टूटी-फूटी, लूली-लंगड़ी और घिसटती भाषा को देखकर समझ सकता है कि जो व्यक्ति भाषा लिखता ऐसा है, वह भाषा समझता कितना होगा! *माटसाब* अंग्रेजी में जो उद्धरण पढ़ते हैं, उसका सही मतलब भी नहीं समझ पाते हैं! अब आइये, इन श्रेणियों, यानी 'बड़े किसान'/'खाते-पीते किसान', पूंजीवादी फार्मर, किसान बुर्जुआजी, पूंजीवादी भूस्वामी, कुलक, आदि को लेकर मास्टरजी के बौने दिमाग़ में जो घोल-मट्ठा हो गया है, उसे साफ़ कर लेते हैं।

'किसान बुर्जुआज़ी', धनी किसान और कुलक की लेनिन व एंगेल्स की परिभाषा बनाम पटना के दोन किहोते की परिभाषा

हमारे पटना के दोन किहोते के अनुसार अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति में मज़दूरों के साथ "समूची किसान आबादी" शामिल हुई और इस किसान आबादी के हिस्से के तौर पर मौजूद धनी किसान और कुलक वर्ग को पूंजीपति वर्ग नहीं कहा जा सकता था। उनके अनुसार, यह 'किसान बुर्जुआज़ी' कहलाता है। *माटसाब* के अनुसार, इस वर्ग के साथ गाँवों में समाजवादी कार्यक्रम लागू होने पर भी सहयोगी जैसा बर्ताव किया जाता और उदाहरण से समझाने का प्रयास किया जाता। मास्टरजी बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' अक्तूबर क्रान्ति के दौरान गांवों में लागू किये गये रैडिकल भूमि कार्यक्रम के 'पहले चरण' में मित्र वर्ग था और गांवों में समाजवादी क्रान्ति का 'दूसरा चरण' शुरू होने पर भी एक सहयोगी वर्ग ही था जिसे सुधारने का प्रयास करना था। उनके अनुसार यह पूंजीपति वर्ग नहीं था। इस बात का सहारा लेकर हमारे दोन किहोते आज के भारत के धनी किसानों और कुलकों के वर्ग को समाजवादी क्रान्ति के 'पहले चरण' में, जिसमें कि उनके अनुसार "समूची किसान आबादी" साथ में आनी है, सर्वहारा क्रान्ति का मित्र वर्ग क़रार देते हैं और 'दूसरे चरण' में भी इसे सहयोगी क़रार देते हैं जिसका एक वर्ग के तौर पर खात्मा नहीं करना था बल्कि जिसे प्यार से समझाना था।

यह सब और कुछ नहीं बल्कि एकदम कोरी बकवास बात है। यहां चार्ल्स बेतेलहाइम की दक्षिणपंथी अवस्थिति और बुखारिन के दक्षिणपंथ को भी पीआरसी के बौद्धिक बौने ने शर्मसार कर दिया है। चार्ल्स बेतेलहाइम का कहना था कि समूची मंझोली किसानी समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत हो जाएगी और इस बात को वह माओ पर आरोपित करने का प्रयास करता है, जबकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद स्पष्ट तौर पर मानता है कि आम तौर पर और विशेष तौर पर समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में मंझोली किसानी तीन हिस्सों में बंटती है: निम्न मध्यम किसान (जिसकी प्रवृत्ति समाजवादी कार्यक्रम की ओर होती है और जिसे जीतना होता है), मध्य मध्यम किसान (जो थोड़ा ढुलमुलयक़ीन होता है, लेकिन जिसे जीतने पर अधिक ज़ोर देना होता है), और उच्च मध्यम किसान (जिसकी प्रवृत्ति धनी किसानों के पीछे जाने की होती है और जिसका एक हिस्सा अनिवार्यत: उनके पीछे जाता भी है)। लेकिन हमारे दोने किहोते तो न सिर्फ मंझोली किसानी को, बल्कि धनी किसानों को भी समाजवादी क्रान्ति का मित्र वर्ग बनाने पर तुले हुए हैं और इसके लिए उन्हें 'किसान बुर्जुआजी' की संज्ञा देते हैं और 'किसान बुर्जुआजी' को पूंजीवादी किसान नहीं मानते हैं! जैसा कि हम आगे देखेंगे, *माटसाब* को इन शब्दों का अर्थ ही नहीं समझ आया है। यही इन जनाब का बुखारिनपंथी दक्षिणपंथ है। लेकिन सबसे पहले देखते हैं कि किस प्रकार *माटसाब* को बुनियादी शब्दों का अर्थ भी नहीं पता है और अपने अज्ञान को वह किस प्रकार लेनिन और स्तालिन पर आरोपित करने का प्रयास करते हैं।

आइये देखते हैं कि लेनिन के अनुसार 'किसान बुर्जआज़ी' और धनी किसान कौन हैं। लेनिन 'रूस में पूंजीवाद का विकास' पुस्तक में 'किसान बुर्जुआज़ी', 'ग्रामीण बुर्जुआज़ी' और 'पूंजीवादी फार्मर' तीनों का ही प्रयोग करते हैं और लगातार समानार्थी के रूप में करते हैं। 'धनी किसान' या 'खाता-पीता किसान', 'किसान बुर्जुआजी', 'ग्रामीण बुर्जुआजी', और 'पूंजीवादी फार्मर' को लेकर *माटसाब* के दिमाग़ में जो गड्ड-मड्ड हो गया है, उसे थोड़ा साफ़ कर लेते हैं और फिर लेनिन के सन्दर्भ से उसे पर्याप्त संख्या में उद्धरणों के साथ समझ भी लेंगे।

बड़ा या खाता-पीता किसान एंगेल्स से लेकर लेनिन तक के लिए वह वर्ग है जिसमें से किसान बुर्जुआजी या पूंजीवादी फार्मर पैदा होता है। यह वह वर्ग है जिसके पास बड़ा भूमि आबण्टन है। वह महज़ अपने पारिवारिक श्रम से अपने खेत को नहीं जोत सकता। नतीजतन, वह उजरती मज़दूर व नौकरों को काम पर रखता है। यही वह वर्ग है जो मुख्य रूप से बाज़ार के लिए उत्पादन, यानी माल उत्पादन शुरू करता है और इसके अस्तित्व के लिए खेत मज़दूरों के वर्ग का होना अनिवार्यता बन जाता है। *इसी वर्ग से अनिवार्यत: और स्वाभाविकत: किसान बुर्जुआजी पैदा होती है। लेकिन उससे पहले यह वर्ग अभी पूंजीवादी किसान या किसान बुर्जुआजी बना नहीं होता है क्योंकि वह अभी उपयुक्त रूप से पूंजीवादी नहीं बना है, पूंजी संचय नहीं कर रहा है, विस्तारित पुनरुत्पादन नहीं कर रहा है, और अपनी पूंजी का वैविध्यकरण कर उसे वाणिज्यिक व औद्योगिक उपक्रमों और सूदखोरी आदि में नहीं लगा रहा है। यह वह वर्ग है, जिसका एक हिस्सा किसान बुर्जुआजी या पूंजीवादी फार्मर के रूप में उभरता है। यह वह वर्ग है जो अभी पूंजीवादी फार्मर बनने के संक्रमण से गुज़र रहा है।*

किसान बुर्जुआजी वह वर्ग है जो नियमित तौर पर बाज़ार के लिए उत्पादन करता है, उजरती मज़दूरों के श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है, मुनाफे को अधिकतम बनाने के लिए उत्पादन करता है। यह और कोई नहीं बल्कि पूंजीवादी फार्मर या धनी किसान ही है। यह पूंजी संचय की प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ ज़मीनें खरीदता है, किराए पर लेता और देता है, औद्योगिक व अन्य वाणिज्यिक उपक्रमों में निवेश करता है, खेती की तकनोलॉजी में निवेश करता है। 'किसान बुर्जुआजी' और कुछ नहीं है, बल्कि उद्यमी पूंजीवादी किसान है। लेनिन यह भी बताते हैं कि ग्रामीण बुर्जुआजी के अन्य अंगों, यानी पूंजीवादी लगानजीवी भूस्वामी, सूदखोर, व्यापारी व औद्योगिक निवेश करने वाले पूंजीपति, के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बल्कि उनके बीच आंशिक अतिच्छादन (partial overlapping) होता है।

ग्रामीण बुर्जुआजी या ग्रामीण पूंजीपति वर्ग में उद्यमी पूंजीवादी किसान या किसान बुर्जुआजी, पूंजीवादी भूस्वामी, पूंजीवादी वाणिज्यिक उपक्रमों में पूंजी निवेश करने वाले और सूदखोरी करने वाले ग्रामीण वर्ग शामिल हैं। लेनिन यह भी बताते हैं कि इनके बीच में कोई पत्थर की दीवार नहीं है और अक्सर उद्यमी किसान/किसान बुर्जुआजी स्वयं ज़मीन किराए पर देने वाला लगानखोर पूंजीवादी भूस्वामी भी होता है, वह सूद पर पैसे भी चलाता है, वाणिज्यिक उपक्रमों में निवेश भी करता है। लेकिन फिर भी इन श्रेणियों को समझना अनिवार्य है क्योंकि आंशिक अतिच्छादन के बावजूद ग्रामीण बुर्जुआजी के ये अलग-अलग हिस्से विद्यमान होते हैं।

संक्षेप में, 'बड़ा किसान' या 'खाता-पीता किसान' वह श्रेणी है, जो महज़ भूमि आबण्टन व संसाधनों के स्वामित्व के पैमानों पर आधारित है। यह राजनीतिक अर्थशास्त्र की कोई 'रिगरस' या विश्लेषणात्मक श्रेणी (analytical category) नहीं है, बल्कि एक विवरणात्मक श्रेणी (descriptive category) है, जिसका इस्तेमाल एक संक्रमणशील अवस्था को दिखलाने के लिए किया गया है, जिसमें अधिक भूमि आबण्टन वाले किसान उजरती श्रम के शोषण व बेशी मूल्य के पूंजी में रूपान्तरण के साथ पूंजीवादी फार्मर में विकसित होते हैं। वह पहले से ही पूंजीवादी किसान या किसान बुर्जुआजी नहीं होता, बल्कि आरम्भ में वह सामान्य माल उत्पादन में लगा होता है। वह पूंजीवादी फार्मर बनने के संक्रमण में है, लेकिन अभी बना नहीं है क्योंकि वह अभी पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन नहीं कर रहा होता है। देखें लेनिन इसके बारे में क्या लिखते हैं:

“On the other hand, **the well-to-do peasants of Russia long ago evolved the elements of a peasant bourgeoisie, and the Stolypin agrarian reform has undoubtedly strengthened, augmented, and reinforced these elements. At the other pole of the rural population, the agricultural wage-workers, the proletarians, and the mass of semi-proletarian peasantry, who stand close to the proletarians,** have likewise gained in strength and numbers.” (Lenin, **The April All Russia Conference, Resolution on the Agrarian Program**, Collected Works, Vol-24, p. 291)

लेनिन स्पष्ट करते हैं कि इनमें से ही किसान बुर्जुआजी पैदा होती है, जो और कुछ नहीं बल्कि उद्यमी पूंजीवादी फार्मर ही है। इनमें से ही कई अपनी पूंजी का वैविध्यकरण कर उसे और अधिक ज़मीन ख़रीदने, लगानखोरी करने, सूदखोरी व वाणिज्यिक मुनाफा कमाने में लगाते हैं। **पूंजीवादी उद्यमी किसान या किसान बुर्जुआजी, पूंजीवादी भूस्वामी, पूंजीवादी काश्तकार किसान, सूदखोर और वाणिज्यिक पूंजी निवेश करने वाले वर्गों के ही कुल योग से ग्रामीण बुर्जुआजी बनती है, हालांकि इन वर्गों के बीच आंशिक अतिच्छादन होता है।** चूंकि ये श्रेणियां पूंजीवादी खेती के विकास क्रम में परिमाणात्मक क्रम को रेखांकित करती हैं, इसलिए लेनिन इन्हें अक्सर अदल-बदलकर इस्तेमाल करते हैं।

अब लेनिन के शब्दों को उद्धृत करते हुए ही इसे समझ लेते हैं। लेनिन गांव में खाते-पीते किसान को ही ‘किसान बुर्जुआज़ी’ (peasant bourgeosie) बताते हैं और दिखलाते हैं कि किस प्रकार खाते-पीते किसान (अधिक भूमि आबण्टन व संसाधनों वाले) पूंजीवादी किसान बनते हैं। देखें लेनिन इस विषय में क्या लिखते हैं-

"Consequently, the well-to-do peasants (the top two groups) engage in what is commercial cultivation, and secure a gross money income ranging from 574 to 1,500 rubles per annum. This commercial cultivation then **becomes capitalist farming, for the areas cultivated by the well-to-do peasants exceed the family labour norm (i.e., the amount of land that a family can cultivate by its own labour), and compel them to resort to the hiring of workers**: in the three northern uyezds of Taurida Gubernia, the author estimates, the well-to-do peasants hire over 14,000 rural workers. The poor peasants, on the contrary, “provide workers” (over 5,000), that is, resort to the sale of their labour-power, since the income from cultivating the land amounts, in the 5 to 10 dess. group, for example, to only about 30 rubles in cash per household. We observe here, consequently, **the very process of the creation of a home market that is dealt with by the theory of capitalist production—the “home market” grows as a result of the conversion into a commodity of the product of commercial, entrepreneur farming, on the one hand, and of the conversion into a commodity of the labour-power sold by the badly-off peasants, on the other.**

...

“We see, accordingly, that **the well-to-do peasants, notwithstanding the fact that they are best provided with allotment land, concentrate in their hands the bulk of the purchased and the rented land and turn into small landowners and capitalist farmers...**

"Thus the well-to-do peasantry are far better supplied with implements than the poor and even the middle peasantry. It is sufficient to glance at this table to see how totally fictitious are the “average” figures which people are so fond of bringing into play when they talk of the “peasantry”. The commercial cultivation of the **peasant bourgeoisie** is accompanied here by **commercial livestock farming**, namely, the breeding of coarse-wool sheep. Regarding implements, we shall quote in addition figures for **improved implements**, which we have taken from Zemstvo statistical returns. Out of the total reaping and mowing machines (3,061), 2,841, or 92.8%, belong to the **peasant bourgeoisie** (5 of the total households).

"The further the penetration of commodity production into crop cultivation, and, consequently, the keener the competition among the agriculturists, the struggle for land and for economic independence, the more vigorously must this law be manifested, **a law which leads to the ousting of the middle and poor peasants by the peasant bourgeoisie."** (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia**, **Chapter II. The Differentiation of the Peasantry**, *our emphasis*)

उपरोक्त उद्धरण से ही साफ़ है कि लेनिन के अनुसार खाता-पीता या बड़ा किसान (यानी बड़े भूमि आबण्टन व अधिक संसाधन वाला किसान) ही बाज़ार के लिए माल उत्पादन करने व उजरती श्रम का शोषण करने, पूंजी संचय करने, तकनोलॉजिकल स्तरोन्नयन करने के साथ ‘किसान बुर्जुआज़ी’ में तब्दील होता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं, भारत का धनी फार्मर व कुलक वर्ग केवल सामान्य माल उत्पादन करने वाला 'बड़ा किसान' या 'खाता-पीता किसान' मात्र नहीं है, वह बाकायदा पूंजीवादी किसान या 'किसान बुर्जुआजी' है, हालांकि *माटसाब* ने अपनी बौद्धिक जोकरी दिखलाते हुए, इन समानार्थी श्रेणियों को अलग क़रार दे दिया है! लेनिन इन दोनों श्रेणियों को समानार्थी के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। आगे वह यह भी बताते हैं कि यह ‘किसान बुर्जुआज़ी’ ही व्यापारिक पूंजी और सूदखोर पूंजी का प्रतिनिधित्व भी करती है:

“Thus, the **peasant bourgeoisie is also a representative of merchant’s and usurer’s capital. Here we have a striking refutation of the Narodnik prejudice that the “kulak” and the “usurer” have nothing in common with the “enterprising muzhik.” On the contrary, the threads both of merchant’s capital (the loaning of money on the security of land, the buying-up of various products, etc.) and of industrial capital (commercial agriculture with the aid of wage-workers, etc,.) merge in the hands of the peasant bourgeoisie.** It depends on surrounding circumstances, on the greater or lesser degree to which the Asiatic way of life is eliminated and culture is widespread in our countryside as to which of these forms of capital will develop at the expense of the other.” (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia, Chapter II. The Differentiation of the Peasantry**)

भारत के कुलकों-धनी किसानों के वर्ग पर यह बात शब्दश: लागू होती है और भारतीय कृषि जगत से वाकिफ कोई भी व्यक्ति इसकी ताईद कर सकता है। अब पहले यह देख लेते हैं कि क्या लेनिन के अनुसार किसान बुर्जुआजी और धनी किसान पूंजीपति वर्ग नहीं होते हैं? क्योंकि माटसाब की मूर्खता की पूरी अट्टालिका इसी बकवास पर खड़ी है कि किसान बुर्जुआजी व धनी किसान पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं होते हैं, पूंजीवादी फार्मर नहीं होते हैं।

लेनिन के अनुसार किसान बुर्जुआजी व धनी किसान पूंजीपति वर्ग ही हैं

अब देख लेते हैं कि लेनिन धनी किसान व किसान बुर्जुआजी को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा मानते हैं या नहीं क्योंकि हमारे *माटसाब* के अनुसार धनी किसान/किसान बुर्जुआजी पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं होते हैं। लेनिन लिखते हैं:

"The landowners and capitalists are generally opposed to full and undivided power being vested in the Soviets of Peasants' Deputies in the countryside; but if these Soviets are unavoidable, then we had better confine ourselves to them alone, **for the rich peasants are also capitalists.** (Lenin, *POLITICAL PARTIES IN RUSSIA AND THE TASKS OF THE PROLETARIAT*, **Collected Works, Vol-24**, p. 104)

और देखें:

"In order that **the rich peasants—who are themselves capitalists**—may not wrong and deceive the agricultural labourers and the poor peasants, it will be necessary for the latter either to confer, to combine, to unite separately, or to set up Soviets of Agricultural Labourers' Deputies of their own. (Lenin, **Speech delivered at a meeting of Soldiers of the Izmailovsky Regiment, APRIL 10 (23)**, 1917)

लेनिन स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि उजरती मज़दूरों और ग़रीब किसानों के हित किसी भी प्रकार धनी किसानों के साथ एक नहीं हो सकते हैं, जो कि स्वयं पूंजीपति वर्ग का ही अंग हैं। याद रखें, निम्न शब्द लेनिन ने अक्तूबर क्रान्ति के ठीक बाद ही कहे थे:

"And the heart of the matter is this: how can the interests of the wage-workers, both urban and rural, and the interests of the poor peasants be protected in the revolution, in the transformation of the political system, that is now taking place in Russia, how can and should their interests be protected against those of the landowners or **rich peasants who are also capitalists?** That, of course, is the crux of the matter, the nub of the whole problem." (Lenin, **Fifth Congress of Peasants' Deputies, Collected Works, Vol-24**, p. 492)

निम्न शब्द बेहद महत्वपूर्ण लेख से लिए गए हैं। उस लेख का नाम है 'सोवियत सरकार के तात्कालिक कार्यभार' जो कि लेनिन ने क्रान्ति के कुछ समय बाद ही लिखा था। इस लेख में लेनिन स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआजी' बुर्जुआजी ही है और बल्कि उसका सबसे ख़तरनाक हिस्सा है, क्योंकि उसकी संख्या ज़्यादा है और वह अड़ियल है। मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों के लिए इस किसान बुर्जुआजी पर विजय प्राप्त करना ही सबसे अहम है लेनिन लिखते हैं:

"In a small-peasant country, which overthrew tsarism only a year ago, and which liberated itself from the Kerenskys less than six months ago, there has naturally remained not a little of spontaneous anarchy, intensified by the brutality and savagery that accompany every protracted and reactionary war, and there has arisen a good deal of despair and aimless bitterness. And if we add to this the provocative policy of the lackeys of the bourgeoisie (the Mensheviks, the Right Socialist-Revolutionaries, etc.) it will become perfectly clear what prolonged and persistent efforts must be exerted by the best and the most class-conscious workers and peasants in order to bring about a complete change in the mood of the people and to bring them on to the proper path of steady and disciplined labour. **Only such a transition brought about by the mass of the poor (the proletarians**

and semi-proletarians) can consummate the victory over the bourgeoisie and particularly over the peasant bourgeoisie, more stubborn and numerous." (Lenin, **THE IMMEDIATE TASKS OF THE SOVIET GOVERNMENT , CW 27**, p. 244)

इसी लेख में लेनिन आगे लिखते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के इस चरण में भी किसान बुर्जुआजी जो कि बुर्जुआजी का ही अंग है, एक शत्रु वर्ग है:

"We have been lagging very far behind in introducing socialist reforms in these spheres (very, very important spheres), and this is because accounting and control are insufficiently organised in general. It goes without saying that this is one of the most difficult tasks, and in view of the ruin caused by the war, it can be fulfilled only over a long period of time; but we must not forget that it is precisely here that **the bourgeoisie—and particularly the numerous petty and peasant bourgeoisie—are putting up the most serious fight, disrupting the control that is already being organised, disrupting the grain monopoly, for example, and gaining positions for profiteering and speculative trade.** We have far from adequately carried out the things we have decreed, and the principal task of the moment is to concentrate all efforts on the businesslike, practical realisation of the principles of the reforms which have already become law (but not yet reality)." (ibid, p. 251-52)

सोकोलनिकी क्लब में भाषण में भी लेनिन किसान बुर्जुआजी के पूंजीपति वर्ग का ही अंग होने और उसके शत्रु वर्ग होने को रेखांकित करते हैं। याद रखें, ये बातें लेनिन तब कहते हैं जबकि अभी सोवियत रूस में सामूहिकीकरण का समाजवादी कार्यक्रम नहीं लागू किया जा रहा था। लेनिन लिखते हैं:

"The bourgeoisie is fully conscious of its interests and is doing its utmost to safeguard them. It knows that if this autumn, for the first time in many centuries, the peasants reap the fruits of their own labour in the shape of the crop, and keep the working class of the town supplied, all its hopes of restoration will collapse and the Soviet government will be strengthened. **That is why the bourgeoisie is now displaying such feverish activity. We must bend all our efforts to combat the rich peasants, the profiteers and the urban bourgeoisie."** (Lenin, *SPEECH AT MEETING IN SOKOLNIKI CLUB* , **CW 27**, p. 453)

एक अन्य स्थान पर लेनिन लिखते हैं:

"In October, we had to confine ourselves to uniting the proletariat and the peasants in general, as a whole. And thanks to this alliance we were able rapidly to destroy the landlord system and sweep it off the face of the earth. But it was only when we proceeded to organise the poor peasants, the peasant proletariat and semi-proletariat, that a durable alliance could be formed between the mass of the urban proletariat and rural proletariat. **Only then could the war against the kulaks and the peasant bourgeoisie be fought in real earnest.** This radical step continues to be the keystone of our food policy." (Lenin, S**peech At a Joint Session of the All-Russia Central Executive Committee, the Moscow Soviet and All-Russia Trade Union Congress, January 17, 1919, CW 28**, p. 392)

कुलकों व धनी किसानों के शत्रु वर्ग होने को रेखांकित करते हुए लेनिन लिखते हैं:

“Let us take it that there are about fifteen million peasant families in Russia, taking Russia as she was before the robbers deprived her of the Ukraine and other territories. Of these fifteen million, probably ten million are poor peasants who live by selling their labour power, or who are in bondage to the rich, or who lack grain surpluses and have been most impoverished by the burdens of war. About three million must be regarded as middle peasants, **while barely two million consist of kulaks, rich peasants, grain profiteers. These bloodsuckers have grown rich on the want suffered by the people in the war; they have raked in thousands and hundreds of thousands of rubles by pushing up the price of grain and other products. These spiders have grown fat at the expense of the peasants ruined by the war, at the expense of the starving workers. These leeches have sucked the blood of the working people and grown richer as the workers in the cities and factories starved. These vampires have been gathering the landed estates into their hands; they continue to enslave the poor peasants. Ruthless war on the kulaks! Death to them! Hatred and contempt for the parties which defend them—the Right Socialist-Revolutionaries, the Mensheviks, and today’s Left Socialist-Revolutionaries! The workers must crush the revolts of the kulaks with an iron hand, the kulaks who are forming an alliance with the foreign capitalists against the working people of their own country.** The kulaks take advantage of the ignorance, the disunity and isolation of the poor peasants. They incite them against the workers. Sometimes they bribe them while permitting them to “make a bit”, a hundred rubles or so, by profiteering in grain (at the same time robbing the poor peasants of many thousands of rubles). The kulaks try to win the support of the middle peasants, and they sometimes succeed. But there is no reason why the working class should quarrel with the middle peasant. **The workers cannot come to terms with the kulak, but they may seek, and are seeking, an agreement with the middle peasant.** The workers’ government, the Bolshevik government, has proved that in deed. (Lenin, **Foreward To The Last, Decisive Fight! , CW Vol-28**, p. 56-57)

क्रान्ति के ठीक पहले भी लेनिन स्पष्ट करते हैं कि पूंजीपति वर्ग के साथ गठजोड़ बनाने के लिए भी गांवों के ग़रीब किसान, मंझोले किसान और खेतिहर सर्वहारा नहीं बल्कि गांव का पूंजीपति वर्ग यानी धनी किसान व किसान बुर्जुआजी उतावले थे। लेनिन लिखते हैं:

党Both on the question of coalition with the bourgeoisie and on the question of immediately transferring the landed estates to peasant committees, the Bolsheviks already have a majority in the Soviets of Workers', Soldiers' and Peasants' Deputies, a *majority of the people*, a majority of the petty bourgeoisie. *Rabochy Put* No. 19, of September 24 quotes from No. 25 of the organ of the Socialist-Revolutionaries *Znamya Truda,* a report on a conference of local Soviets of Peasants' Deputies held in Petrograd on September 18. At this conference the Executive Committees of four Peasants' Soviets (Kostroma, Moscow, Samara and Taurida gubernias) voted for an unrestricted coalition. The Executive Committees of *three* gubernias and *two* armies (Vladimir, Ryazan and the Black Sea gubernias) voted in favour of a coalition without the Cadets. The Executive Committees of twenty-three gubernias and four armies voted against a coalition.

党*So, the majority of the peasants are against a coalition!*

“So much for the "isolation of the proletariat".

“We should note, by the way, that **the supporters of a coalition were three outlying gubernias, Samara, Taurida and the Black Sea, where there is a relatively very large number of rich peasants and big landowners who employ hired labour, and also four industrial gubernias (Vladimir, Ryazan, Kostroma and Moscow) in which the peasant bourgeoisie are also stronger than in the majority of the gubernias in**

Russia." (Lenin, **'Can the Bolsheviks Retain State Power'**, 1 October 1917)

निम्न उद्धरण में भी लेनिन बताते हैं कि गांव के पूंजीपति वर्ग के प्रमुख अंग किसान बुर्जुआजी का रवैया प्रतिक्रान्ति के साथ खड़े होने का था और रूसी क्रान्ति का भविष्य इसी पर निर्भर करता था कि सर्वहारा वर्ग खेतिहर सर्वहारा व अर्द्धसर्वहारा वर्ग को उनसे राजनीतिक तौर पर अलग कर सकता है या नहीं। लेनिन लिखते हैं:

"The fate and the outcome of the Russian revolution—unless the incipient proletarian revolution Europe exercises a direct and powerful influence on our country—will depend on whether the urban proletariat succeeds in rallying the rural proletariat together with the mass of rural semi-proletarians behind it, **or whether this mass follows the lead of the peasant bourgeoisie, which is gravitating towards an alliance with Guchkov and Milyukov, with the capitalists and landowners, and towards the counter-revolution in general."** (Lenin, **The April All Russia Conference, Resolution on the Agrarian Program, CW Vol-24,** p. 291)

पार्टी कार्यक्रम में संशोधन पर लिखे गये अपने लेख में लेनिन स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि जनवादी भूमि सुधार की मंजिल में भी बोल्शेविक खेतिहर सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा और ग़रीब व मंझोले किसानों किसान बुर्जुआजी से असमाधेय अन्तरविरोधों के बारे में सचेत कर उनके राजनीतिक रूप से स्वतंत्र संगठन बनाएंगे क्योंकि समाजवादी क्रान्ति का भविष्य इसी पर निर्भर करता है। लेनिन लिखते हैं:

"Furthermore, the Party under all circumstances, and whatever the conditions of **democratic agrarian reform** may be, will unswervingly work for the independent class organisation of the rural proletariat, will explain to the latter **the irreconcilable antagonisms that exist between it and the peasant bourgeoisie,** will warn it against the false attraction of the system of petty farming, which, while commodity production exists, can never do away with the poverty of the masses, and, finally, will urge the need for a complete socialist revolution as the only means of abolishing poverty and exploitation. " (Lenin, **Revision of the Party Program, CW Vol-24**, p. 478)

किसान बुर्जुआजी और ग्रामीण बुर्जुआजी के विषय में माटसाब की अगड़म-बगड़म और लेनिन के विचार

धनी किसान व किसान बुर्जुआजी के पूंजीपति वर्ग होने के बारे में लेनिन के विचारों को समझने के बाद आइये देखते हैं कि लेनिन किसान बुर्जुआजी और ग्रामीण बुर्जुआजी के बारे में क्या कहते हैं। आगे लेनिन 'किसान बुर्जुआज़ी' और ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग को समानार्थी के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। देखें:

"The **well-to-do peasantry** have also a considerable number of animals per household: 14.6 head (in terms of cattle, i.e., counting 10 head of small domestic animals for one of cattle), and of the total number of peasants' cattle in the uyezd, nearly 56% is concentrated in the hands of the **peasant bourgeoisie**. At the opposite pole in the countryside, we find the opposite state of affairs; the complete dispossession of the bottom group, **the rural proletariat**, who in our example comprise a little less than 2 of the households (nearly 3 of the population), but who have only 8 of the total area under crops, and even less (11.8%) of the total number of animals. These are mainly allotment-holding **farm labourers**, **day labourers** and **industrial workers**. Side by side with **the concentration of crop areas and with the enhancement of the commercial character of agriculture there takes place its transformation into capitalist agriculture**. That is an undoubted fact, for the allotment is one of the major factors of well-being. **Where, consequently, the peasants are large-allotment holders there are**

always more members of the peasant bourgeoisie and, as a result, the "average" allotment figures for the whole category are raised. All this, however, gives no grounds whatever for inferring that a method combining the rural bourgeoisie with the rural proletariat is correct." (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia, Chapter II. The Differentiation of the Peasantry**)

आप देख सकते हैं कि लेनिन उपरोक्त उद्धरण में 'किसान बुर्जुआज़ी' और ग्रामीण पूंजीपति वर्ग को एक-दूसरे के समानार्थी के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। लेकिन डूबते को तिनके का सहारा होता है और इसलिए हमारे मास्टरजी भी इसी 'किसान बुर्जुआज़ी' के तिनके पर सवार होकर धनी किसान-कुलक वर्ग के प्रति अपनी वर्ग सहयोगवादी कार्यदिशा को सही साबित करने पर पिल पड़े हैं! आगे लेनिन फिर बताते हैं कि किसान आबादी का विभेदीकरण एक छोर पर 'किसान बुर्जुआज़ी' को पैदा करता है तो दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग को। इसके साथ ही लेनिन गाँवों में 'किसान बुर्जुआज़ी' की तमाम गतिविधियों को भी इंगित करते हैं जो उनके अनुसार कृषि में पूंजीवादी विकास की ओर इशारा करती है और दिखलाती है कि किसान बुर्जुआजी और कुछ नहीं बल्कि पूंजीवादी फार्मर ही हैं।

"And so, in Orel Gubernia also we see the **differentiation of the peasantry into two directly opposite types: on the one hand, into a rural proletariat (abandonment of land and sale of labour-power), and, on the other, into a peasant bourgeoisie (purchase of land, renting on a considerable scale, especially of allotment land, improved methods of farming, hiring of regular farm labourers and day labourers...**and **the combining of commercial and industrial enterprises with agriculture.)** The scale of farming by the peasants here, however, is generally much smaller than in the above-quoted cases; there are far fewer big crop growers, and the differentiation of the peasantry, to judge by these two uyezds, therefore seems weaker. We say "seems" on the following grounds: firstly, though we observe here that the "peasantry" turn more rapidly into a rural proletariat and produce hardly perceptible groups of **rural bourgeois**, we have, on the other hand, already seen examples of the reverse, where this latter pole of the countryside becomes particularly perceptible.

"In the numerically small top group of the peasantry we see the opposite: **the preponderance of grain sales over purchase, the receipt of money income mainly from the land, and a high percentage of peasants employing farm labourers, possessing improved implements, and owning commercial and industrial establishments. All the typical features of the peasant bourgeoisie are clearly visible here too (despite its small numbers); they are visible in the shape of the growth of commercial and capitalist agriculture."** (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia, Chapter II. The Differentiation of the Peasantry**)

जैसा कि आप देख सकते हैं, उपरोक्त उद्धरण में भी लेनिन इन शब्दों, किसान बुर्जुआजी और ग्रामीण बुर्जुआजी, को एक ही अर्थ में इस्तेमाल कर रहे हैं। लेनिन किसान आबादी के विभेदीकरण की प्रक्रिया का समाहार करते हुए बताते हैं कि:

"The differentiation of the peasantry, which develops the latter's extreme groups at the expense of the middle "peasantry", creates two new types of rural inhabitants. The feature common to both types is the commodity, money character of their economy. The first new type is the **rural bourgeoisie or the well-to-do peasantry**. These include the independent farmers who carry on commercial agriculture in all its varied forms... then come the owners of commercial and industrial establishments, the proprietors of commercial enterprises, etc. The combining of commercial agriculture with commercial and industrial enterprises is the type of "combination of agriculture with industries" that is specifically peculiar to *this* peasantry. **From among these well-to-do peasants**

a class of capitalist farmers is created, since the renting of land for the sale of grain plays (in the agricultural belt) an enormous part in their farms, often a more important part than the allotment. The size of the farm, in the majority of cases, requires a labour force larger than that available in the family, for which reason the formation of a body of farm labourers, and still more of day labourers, is a necessary condition for the existence of the well-to-do peasantry. The spare cash obtained by these peasants in the shape of net income is either directed towards commercial operations and usury, which are so excessively developed in our rural districts, or, under favourable conditions, is invested in the purchase of land, farm improvements, etc. Numerically, the **peasant bourgeoisie** constitute a small minority of the peasantry, probably not more than one-fifth of the total number of households (which is approximately three-tenths of the population), although, of course, the proportion fluctuates considerably according to district. **But as to their weight in the sum-total of peasant farming, in the total, quantity of means of production belonging to the peasantry, in the total amount of produce raised by the peasantry, the peasant bourgeoisie are undoubtedly predominant. They are the masters of the contemporary countryside.**

"The old peasantry is not only "differentiating," it is being completely dissolved, it is ceasing to exist, it is being ousted by absolutely new types of rural inhabitants—types that are the basis of a society in which commodity economy and capitalist production prevail. These types are the **rural bourgeoisie** (chiefly petty bourgeoisie) and the **rural proletariat**—a class of commodity producers in agriculture and a class of agricultural wage-workers." (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia**, **Chapter II. The Differentiation of the Peasantry**, *our emphasis*)

जैसा कि आप उपरोक्त उद्धरणों से देख सकते हैं, 'किसान बुर्जुआजी', 'पूंजीवादी फार्मर' और 'ग्रामीण बुर्जुआजी' शब्दों का लेनिन ने समानार्थी के तौर पर बार-बार इस्तेमाल किया है, क्योंकि ये एक ही प्रक्रिया के अलग-अलग परिमाणात्मक चरण हैं, न कि इनमें कोई गुणात्मक अन्तर है, जैसा कि हमने शुरू में बताया था। **इन सभी की सारवस्तु यही है: उजरती श्रम का शोषण, पूंजीवादी माल उत्पादन, उद्यमी मुनाफे, लगान, वाणिज्यिक मुनाफे और सूद के रूपों में बेशी मूल्य का विनियोजन, बेशी मूल्य का *पूंजी में रूपान्तरण* और उसे भूमि ख़रीदने या किराए पर लेने या देने, खेती के उपकरणों को उन्नत करने, सूद पर पैसा चलाने आदि में लगाया जाना।** आज भारत के कुलक और धनी पूंजीवादी किसान इसी श्रेणी में आते हैं, न कि सामान्य माल उत्पादन में लगे बड़े अलॉटमेण्ट वाले 'बड़े' या 'खाते-पीते किसान' में, हालांकि यह बड़ा किसान या खाता-पीता किसान ही है, जिससे कि पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी पैदा होती है और भारत में भी ऐसा ही हुआ है। लेकिन *माटसाब* जो बात नहीं समझ पाते हैं वह यह है: भारत में संक्रमण की यह प्रक्रिया 1960 के दशक में ही मूलत: और मुख्यत: सम्पन्न हो चुकी है। लेकिन *माटसाब* 1960 से पहले के दौर में ही अपनी बौनी बन्दरकुद्दियां मारे जा रहे हैं, ताकि खेतिहर बुर्जुआजी की पूंछ में कंघी कर सकें।

लेनिन के निम्न उद्धरण से (जिसे हमने ऊपर भी पेश किया था) यह भी साफ हो जाता है कि किसान बुर्जुआजी ग्रामीण बुर्जुआजी का ही एक हिस्सा है, वह हिस्सा जिसे हम उद्यमी पूंजीवादी फार्मर/उद्यमी मुजिक/धनी किसान कहते हैं। ग्रामीण बुर्जुआजी में पूंजीवादी भूस्वामी, सूदखोर, वाणिज्यिक पूंजी के स्वामी और साथ ही उद्यमी पूंजीवादी किसान व पूंजीवादी काश्तकार, सभी शामिल हैं और जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, इन सभी में आंशिक अतिच्छादन भी होता है। लेकिन किसान बुर्जुआजी और ग्रामीण बुर्जुआजी में ऐसा कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि हमारे बौद्धिक बौने मास्टरजी को लगता है। देखें, लेनिन क्या लिखते हैं:

"Having completed the bourgeois-democratic revolution in alliance with the peasants as a whole, **the Russian proletariat finally passed on to the socialist revolution when it succeeded in splitting the rural population,**

in winning over the rural proletarians and semi-proletarians, and in uniting them against *the kulaks and the bourgeoisie, including the peasant bourgeoisie."* (Lenin, **The Proletarian Revolution and Renegade Kautsky**)

सोवियत संघ में प्रकाशित राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक भी ग्रामीण बुर्जुआजी व कुलक के एक होने को स्पष्ट कर देती है:

"The **rural bourgeoisie (or kulaks)** carry on commodity production on the basis of employing hired labour, exploiting the permanent rural labourers and (still more) the day-labourers and other temporary workers whom they take on for seasonal field work. They concentrate in their possession a considerable share of the land (including leased land), draught animals and agricultural produce. They also own enterprises for the working-up of raw material, mills, threshing-machines, pedigree stock, etc. They usually also function as the village moneylenders and shopkeepers. All this serves as a means of exploiting the poor and a considerable section of the middle peasantry."

कुलकों का वर्ग रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधारों को लागू करने की मंजिल में भी क्यों शत्रु वर्ग की भूमिका में था, यह भी यह पाठ्यपुस्तक बताती है:

"Following the October Revolution, already in 1918, the middle peasant predominated. This was because the peasants had received without payment the land and part of the cattle and stock of the landowners. **In 1918 the kulaks were partially expropriated, being deprived of 125 million acres of land which were given to the poor and middle peasants. In 1928-9 peasant households were divided as follows: 35 per cent poor peasants, 60 per cent middle peasants and 4-5 per cent kulaks.**"

मास्टरजी को यह भी समझ लेना चाहिए कि सामूहिकीकरण में धनी किसानों और कुलकों को समझा-बुझाकर नहीं लाया गया था, क्योंकि वह मास्टरजी के कोचिंग सेण्टर के छात्र नहीं थे, जिन्हें मास्टरजी समझा-बुझाकर अपना संगठन चला रहे हैं। देखें यह पाठ्यपुस्तक क्या बताती है:

"The turn of the bulk of the peasantry towards collectivisation required an **implacable class struggle against the kulaks**. The kulak opposition to the policy of the Soviet Government in the countryside grew particularly strong in 1927- 8, when the Soviet Union was experiencing grain difficulties. The kulaks organised sabotage of State grain purchases, committed terrorist acts against collective farmers, Party and Soviet workers, and set fire to collective farms and State granaries. The policy of decisive struggle against the kulaks and the defence of the interest of the working peasantry rallied the poor and middle peasant masses around the Communist Party and the Soviet State.

…

The great turn of the bulk of the peasant masses to socialism meant a fundamental shift of the class forces of the country, in favour of socialism and against capitalism. This enabled the Communist Party and the Socialist State **to move forward from the old policy of restricting and squeezing out the capitalist elements in the countryside to a new policy, the policy of eliminating the kulaks as a class on the basis of all-round collectivisation.**"

हमने *माटसाब* को बुखारिनपंथ का देसी भोण्डा संस्करण क्यों कहा है, इसे भी इस पाठ्यपुस्तक के निम्न शब्दों से आप समझ सकते हैं, क्योंकि *माटसाब* भी शान्तिपूर्ण तरीके से कुलकों को समाजवादी रूपान्तरण में शामिल करना चाहते हैं और इसके लिए अभी से उनकी ट्रॉली पर लटके घूम रहे हैं। देखें:

"The victory of the collective farm system was won in decisive struggle against the exploiting classes and their Trotskyist and Bukharinist agents, who defended the kulaks in every possible way, combated the creation of collective and State farms and demanded the dissolution and abolition of the existing collective and State farms. The Communist Party routed...**the right-opportunist Bukharinist theory of the "peaceful growing of the kulaks into socialism", and of "letting things develop themselves in economic construction.**"

इतना तय है कि पीआरसी के दोन किहोते कुछ भी पढ़ते-लिखते नहीं हैं और अगर पढ़ते हैं, तो उसे समझते नहीं हैं और जो समझते हैं वह प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण होता है। इन्होंने अपने कोचिंग सेण्टर के छात्रों में भी मूर्खता का यह घटाटोप फैलाकर एक "संगठन" बना लिया है और इधर-उधर "सिद्धान्त-प्रतिपादन" करते, भावी शासक वर्ग के नुमाइन्दे बने घूमते रहते हैं! **क्या यह व्यक्ति एक जीता-जागता भयंकर प्रहसन नहीं है?**

बहरहाल, हमारे पटना के दोन किहोते द्वारा प्रतिपादित *"'किसान बुर्जुआज़ी' पूंजीपति वर्ग नहीं है"* की बेतुकी अवधारणा के परखच्चे उड़ाने के लिए अभी इतने उद्धरण ही काफी हैं, हालांकि दर्जनों ऐसे उद्धरण यहाँ और पेश किये जा सकते हैं जो ये दिखलाते हैं कि लेनिन और साथ ही स्तालिन की निगाह में 'किसान बुर्जुआज़ी' ग्रामीण पूंजीपति वर्ग का ही हिस्सा है। स्तालिन का जो उद्धरण 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' से मास्टरजी पेश करते हैं, वह भी महज़ इस परिमाणात्मक अन्तर को ही चिन्हित करता है, न कि गुणात्मक अन्तर को। लेकिन चूंकि मास्टरजी को लेनिन के लेखन के विषय में कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए स्तालिन के लेखन में भी वह अर्थ का अनर्थ करने पर आमादा हैं।

मास्टरजी द्वारा इतिहास पर किया गया तीसरा हमला: कृषि में समाजवादी कार्यक्रम के कार्यान्वयन के चरण में धनी किसानों और कुलकों से मित्रता/सहयोग की कार्यदिशा को लेनिन व स्तालिन पर आरोपित करना.

क्या धनी किसान व कुलक अक्तूबर क्रान्ति के दौरान या उसके बाद मित्र वर्ग या सहयोगी वर्ग थे?

पीआरसी के लेखक महोदय यह भी बताते हैं कि लेनिन के अनुसार धनी किसान भी पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है (जिसका हम ऊपर सोदाहरण, सप्रमाण व ससन्दर्भ खण्डन कर चुके हैं), वे समाजवादी क्रान्ति के दौर में भी सहयोगी या मित्र वर्ग थे, और इसके लिए वह लेनिन का निम्न उद्धरण प्रस्तुत करते हैं:

"Even in respect of the rich peasants we do not say as resolutely as we do of the bourgeoisie— absolute expropriation of the rich peasants and the kulaks." (Eighth Congress of the R.C.P.(B.) March 18-23, 1919)

मास्टरजी अपने कुतर्कों को सही साबित करने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं जिसका मुज़ाहिरा हम पहले भी कई बार देख चुके हैं। इसके लिए चाहे उन्हें लेनिन को भी अपनी तरह एक आम पेटी-बुर्जुआ वर्ग सहयोगवादी के रूप में ही पेश क्यों न करना पड़े। पहली बात यह है कि उपरोक्त उद्धरण में लेनिन ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं कि वह धनी किसान वर्ग को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं मानते हैं बल्कि यहां अक्तूबर क्रान्ति के तुरन्त बाद वह सर्वहारा राज्य की ग्रामीण पूंजीपति वर्ग के एक विशिष्ट हिस्से के प्रति तात्कालिक रणनीति को रेखांकित मात्र कर रहे हैं। यह हिस्सा धनी किसानों का वह हिस्सा था, जिसने उसकी अतिरिक्त ज़मीन के अधिग्रहण के विरुद्ध कोई प्रतिक्रान्तिकारी प्रतिरोध नहीं किया और रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधार के कदमों को स्वीकार किया। **उसके बारे में लेनिन का कहना है कि उसकी समूची ज़मीन को पूर्णत: ले लेने यानी उसके सम्पत्ति-हरण (expropriation) की अभी कोई आवश्यकता नहीं है। सभी जानते हैं कि अक्तूबर**

क्रान्ति के बाद हुए रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार ने ग़रीब किसानों और साथ ही धनी किसानों के एक बड़े हिस्से को मंझोले किसानों में तब्दील कर दिया था, जिसके कुछ आंकड़े हमने ऊपर दिये हैं। यहां लेनिन रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों की प्रक्रिया में धनी किसानों के वर्ग के उस हिस्से का तत्काल सम्पत्ति-हरण *नहीं* करने की बात कर रहे हैं, जिसने अतिरिक्त भूमि के सोवियत सत्ता द्वारा अधिग्रहण का प्रतिरोध नहीं किया, सोवियत सत्ता के विरुद्ध प्रतिक्रान्ति का राजनीतिक रूप से पक्ष नहीं लिया, और साथ ही उस हिस्से के प्रतिरोध का दमन करने की बात कर रहे हैं, जो सोवियत सत्ता के विरुद्ध प्रतिक्रान्ति में शामिल था।

लेकिन जाहिर है, चूंकि अभी समाजवादी सामूहिकीकरण का कोई कार्यक्रम लागू नहीं किया जा रहा था और अभी ग़रीब किसान समितियों के ज़रिये महज़ समाजवादी वर्ग संघर्ष की मंजिल की शुरुआत की गयी थी, जिसके ज़रिये व्यापक किसान जनसमुदायों के अन्दर राजनीतिक वर्ग विभेदीकरण को अंजाम देना था, इसलिए तत्काल धनी किसानों के पूर्ण सम्पत्ति-हरण का प्रश्न ही नहीं पैदा होता था। और लेनिन यहां केवल इतना ही स्पष्ट कर रहे हैं कि धनी किसानों व कुलकों का पूर्ण सम्पत्ति-हरण करने की अभी मंजिल ही नहीं है और केवल क्रान्ति के विरुद्ध और रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों के विरुद्ध उनके प्रतिरोध को कुचलने की आवश्यकता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मित्र वर्ग है या उस वर्ग को समझा-बुझाकर प्यार से समाजवादी कार्यक्रम पर लाया जाना है, जैसा कि हमने ऊपर पेश कई उद्धरणों में दिखलाया है। फिलहाल, उस दौर में जो नीति कुलकों के प्रतिरोध के दमन तक जानी थी, समाजवादी सामूहिकीकरण की मंजिल में वही नीति उनके सम्पत्ति-हरण तक जानी थी और गयी भी। यह बात कि कुलक वर्ग शत्रु वर्ग है, लेनिन उक्त रचना में ही आगे शब्दश: स्पष्ट भी करते हैं, जैसा कि हम देखेंगे।

लेकिन मास्टरजी को चूंकि सोवियत समाजवाद के इतिहास के बारे में शून्य जानकारी है, इसलिए वह लेनिन के उपरोक्त उद्धरण के ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझ ही नहीं पाते हैं और न ही यह समझ पाते हैं कि रूसी क्रान्ति अक्तूबर 1917 में गांवों में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधारों और 1918 की गर्मियों में ग़रीब किसान समितियों के ज़रिये सर्वहारा वर्ग संघर्ष की शुरुआत कर राजनीतिक विभेदीकरण करने से आगे नहीं गयी थी, हालांकि इस कदम को भी 'नेप' के दौरान बोल्शेविक पार्टी को 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' के एक अंग के तौर पर वापस लेना पड़ा था।

लेकिन यह समझना कि आठवीं कांग्रेस में अपने भाषणों में लेनिन ने कुलकों या धनी किसानों को वर्ग शत्रु नहीं माना था, तथ्यों के साथ भयंकर दुराचार है, या फिर मास्टरजी ने आठवीं कांग्रेस के पूरे दस्तावेज़ को पढ़ा ही नहीं है। इसे समझने के लिए आठवीं कांग्रेस के दस्तावेज़ों से ही लेनिन के निम्न उद्धरण को देखें:

“Comrades, it was natural that in the first period, when we had to fight for the Soviet Republic’s right to existence, this question should not have been pushed into the foreground on an extensive scale. **The relentless war against the rural bourgeoisie and the kulaks gave prominence to the organisation of the rural proletariat and semi-proletariat.** But by its next step the Party, which wants to lay the sound foundations of communist society, must take up the task of correctly defining our attitude towards the middle peasants.” (Lenin**, Eighth Congress of the RCP (B)** *emphasis ours*)

आगे लेनिन यह स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि एंगेल्स ने 'बड़े किसानों' के साथ कुछ मामलों में हिंसा न किये जाने की सम्भावना की जो बात की थी, वह रूसी मामले में लागू नहीं होती है और इतिहास ने कुछ और ही साबित किया है:

“Since my time has almost expired, I want to say only a few words about our attitude towards the middle peasants. The attitude we should take towards the middle peasants was, in principle, quite clear to us even before the revolution. The task that faced us was to *neutralise them*. At a meeting in Moscow where the question of our attitude towards petty-bourgeois parties was discussed, **I quoted the exact words of Engels, who not only**

pointed out that the middle peasants were our allies, but also expressed the view that it would be possible, perhaps, to dispense with coercion, with repressive measures even as regards the big peasants. In Russia, this assumption did not prove correct; we were, are, and will be, in a state of open civil war with the kulaks. This is inevitable. We have seen it in practice. But owing to the inexperience of our Soviet officials and to the difficulties of the problem, the blows which were intended for the kulaks very frequently fell on the middle peasants." (ibid, *emphasis ours)*

***माटसाब* की पूरी दलील ही इस अटकलबाज़ी पर खड़ी थी कि भारत में धनी किसानों के प्रति मित्रवत रवैया अपनाना होगा। लेकिन लेनिन ने अपने उसी लेख में इस विभ्रम का निवारण कर दिया है, जिस लेख से लेनिन को सन्दर्भों से काटकर *माटसाब* ने उद्धृत किया है। इसके साथ ही उसी दौर के लेनिन के अन्य कई लेखों व भाषणों को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि धनी किसान, कुलक व किसान बुर्जुआजी में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, कि वे शत्रु वर्ग ही हैं और समाजवादी संक्रमण में वे और कुछ हो भी नहीं सकते हैं। अगर यह बात 1917-18 और उसके बाद के दौर के सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ पर लागू होती है, तो आज के भारत पर तो निश्चित ही लागू होती है और कहीं ज़्यादा पुरज़ोर तरीके से लागू होती है। पाठक देख सकते हैं कि कुलकों की गोद गर्म करने के लिए *माटसाब* कितने उतावले हुए जा रहे हैं। हालांकि, स्वयं कुलक इस बात को लेकर बहुत उत्साहित नज़र नहीं आ रहे हैं!**

लेनिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में मित्र वर्गों व शत्रु वर्गों के बीच की रेखा न सिर्फ शहर में बल्कि गांवों में भी इस बात से निर्धारित होगी कि कौन उजरती श्रम का शोषण करता है और कौन नहीं। जो उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं, मसलन, सामान्य माल उत्पादक जैसे कि मंझोले किसान जो केवल अपने व अपने परिवार के श्रम के साथ खेती करते हैं, उनके साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन जो उजरती श्रम का शोषण करते हैं, उनके मित्र वर्ग होने का भी प्रश्न नहीं उठता है। देखें, लेनिन क्या लिखते हैं:

"The basic difference in our attitude towards the bourgeoisie and the middle peasant—complete expropriation of the bourgeoisie and an alliance **with the middle peasant who does not exploit others**—this basic line is accepted by everybody in theory."

यहां यह स्पष्ट कर देना भी ज़रूरी है कि *लाइन* और कार्यक्रम में फर्क होता है। मिसाल के तौर पर, यदि गांव में जनवादी कार्यभार पूरा किया जाना है, तो वहां कृषि के क्षेत्र में जनवादी कार्यक्रम लागू किया जाना है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इस मंजिल/चरण में कम्युनिस्ट पार्टी की *लाइन* बुर्जुआ जनवादी होती है। इस मंजिल में भी बुनियादी कार्यदिशा (लाइन) सर्वहारा लाइन ही होती है और यह बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम को सर्वाधिक पूर्णता और निर्णायकता के साथ लागू करती है, जिसकी क्षमता स्वयं बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के युग में खो चुका होता है, और यही बात बोल्शेविक पार्टी ने एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम अक्तूबर क्रान्ति के बाद लागू करके साबित की। **सर्वहारा कार्यदिशा किसी भी मंजिल में कम्युनिस्ट पार्टी की वर्गों व राज्यसत्ता के प्रश्न के प्रति *आम पहुंच* को दर्शाती है।** इस कार्यदिशा को लागू कर प्रधान अन्तरविरोधों के अनुसार कोई कम्युनिस्ट पार्टी जनवादी कार्यक्रम को निर्धारित कर सकती है और जनवादी कार्यभार को सर्वाधिक रैडिकल तरीके से पूरा कर सकती है, या वह प्रधान अन्तरविरोध को सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग का अन्तरविरोध करार देकर समाजवादी कार्यक्रम पर अमल कर सकती है। उपरोक्त उद्धरण में लेनिन *बुनियादी कार्यदिशा* की बात कर रहे हैं और बता रहे हैं कि इस कार्यदिशा के अनुसार, उजरती श्रम का शोषण करने वाले स्पष्टत: शत्रु वर्ग की श्रेणी में आते हैं, जबकि उजरती श्रम का शोषण न करने वाले मंझोले किसान, छोटे मालिक अवश्य हैं, लेकिन वे शत्रु वर्ग की श्रेणी में नहीं आते, उन्हें तटस्थ बनाना और कालान्तर में कदम-दर-कदम क्रमिक प्रक्रिया में उनकी अधिक से अधिक संख्या को समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी करना कम्युनिस्ट पार्टी का लक्ष्य है।

निम्न उद्धरण में लेनिन फिर से स्पष्ट करते हैं कि अक्तूबर 1917 में जो राज्यसत्ता अस्तित्व में आई, उसके लिए कुलक वर्ग शत्रु वर्ग की श्रेणी में ही आता था, अगर तत्काल उनका पूर्ण सम्पत्ति-हरण भूमि कार्यक्रम का अंग न हो, तो भी। देखें:

"In view of this, the law issued by the Soviet government on the emergency tax, as distinct from all the laws issued by all the bourgeois governments in the world, **makes a point of laying the burden of the tax wholly on the kulaks, the inconsiderable number of peasant exploiters who particularly enriched themselves during the war."** (ibid)

अगले ही वर्ष लेनिन ने कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस में इस कार्यदिशा को स्पष्ट शब्दों में रखा:

"The big peasants (*Grossbauern*) *[Grossbauern in German literally means 'big farmer' - Author]* **are capitalist *entrepreneurs* in agriculture,** who as a rule employ several hired labourers and are connected with the "peasantry" only in their low cultural level, habits of life, and the manual labour they themselves perform on their farms. **These constitute the biggest of the bourgeois strata who are open and determined enemies of the revolutionary proletariat. In all their work in the countryside, the Communist parties must concentrate their attention mainly on the struggle against this stratum, on liberating the toiling and exploited majority of the rural population from the ideological and political influence of these exploiters, etc.**

"Following the victory of the proletariat in the cities, all sorts of manifestations of resistance and sabotage, as well as direct armed action of a counter-revolutionary character on the part of this stratum, are absolutely inevitable. **The revolutionary proletariat must therefore immediately begin the ideological and organisational preparation of the forces necessary to completely disarm this stratum and, simultaneously with the overthrow of the capitalists in industry, to deal this stratum a most determined, ruthless and smashing blow at the very first signs of resistance;** for this purpose, the rural proletariat must be armed and village Soviets organised, in which the exploiters must have no place, and in which proletarians and semi-proletarians must be ensured predominance.

"**However, the expropriation even of the big peasants can in no way be made an immediate task of the victorious proletariat, because the material and especially the technical conditions, as well as *the social conditions*, for the socialisation of such farms are still lacking. *In individual and probably exceptional cases, those parts of their land which they rent out in small plots or which are particularly needed by the surrounding small-peasant population will be confiscated; the small peasants should also be guaranteed, on certain terms, the free use of part of the agricultural machinery belonging to the big peasants, etc.* As a general rule, however, the proletarian state must allow the big peasants to retain their land, confiscating it only if they resist the power of the working and exploited people."** (Lenin, **Preliminary Draft Theses on the Agrarian Question for the Second Congress of the Communist International**)

उपरोक्त उद्धरण में लेनिन रूसी क्रान्ति की विशिष्टता, उसकी ऐतिहासिक सीमा, विशेष तौर पर कृषि व किसान प्रश्नों पर उसकी जटिलता और उसमें तात्कालिक तौर पर रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को पूर्णता तक पहुंचाने की बाध्यता को चिन्हित करते हैं, और इस रूप में धनी किसानों के प्रति तात्कालिक तौर पर पूर्ण सम्पत्ति-हरण की अवांछनीयता को रेखांकित करते हैं। लेकिन ऐसा ठीक इसलिए करना पड़ा था क्योंकि तत्कालीन रूस में वर्ग शक्ति सन्तुलन, सामाजिक शक्तियों के आपसी सम्बन्ध, और रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधार लागू करने के साथ पैदा होने वाली स्थितियां बिल्कुल विशिष्ट और भिन्न थी। **इसे आज भारत जैसे देश में समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर**

आरोपित करना केवल यही दिखलाता है कि मास्टरजी सोवियत समाजवाद के सिद्धान्त और व्यवहार की समस्याओं और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ से पूर्णत: अनभिज्ञ हैं और अनुक्रमणिका से काम लायक उद्धरण ढूंढने के चक्कर में वर्ग सहयोगवाद के मलकुण्ड में नहा गये हैं।

धनी किसानों व कुलकों के प्रति स्तालिन का दृष्टिकोण और *माटसाब* का बदबू मारता सस्ता बुखारिनपंथ

स्तालिन लेनिन के दृष्टिकोण को ही पुख्ता करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के किसानों के भिन्न संस्तरों के साथ सम्बन्ध को इंगित करते हैं और पुन: यह रेखांकित करते हैं कि हमें किसानों को विभेदीकृत तबके के रूप में देखना चाहिए। स्तालिन कुलक वर्ग को ग़रीब बताये जाने या पटना के हमारे दोन किहोते द्वारा इस वर्ग को उत्पीड़ित बताये जाने की प्रवृत्ति का भी मखौल उड़ाते हैं, जोकि वास्तव में बुखारिनपंथी वर्ग सहयोगवाद से ग्रस्त थी। ध्यान दें, स्तालिन ने ये शब्द तब लिखे थे, जबकि सोवियत संघ में बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम पहले ही अपनी पूर्णता तक पहुंच चुका था, बल्कि सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुंच चुका था, और अब खेती में समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने का समय आ चुका था।

स्तालिन का निम्न उद्धरण यह समझने के लिए सबसे ज़रूरी है कि कम्युनिस्टों की वर्ग कार्यदिशा खेती के क्षेत्र में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में क्या होगी, क्योंकि 1917 की अक्तूबर क्रान्ति और उसके बाद के लेनिन के उद्धरणों को मास्टरजी विकृत करके पेश करते हैं और बताते हैं कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में भी समूची किसान आबादी साथ आएगी, जैसे कि वह अक्तूबर क्रान्ति में साथ आई थी। इस बौद्धिक बौने को यह भी नहीं पता है कि अक्तूबर क्रान्ति ने खेती के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार ही लागू किये थे, जिसमें एक हद तक "समूची किसान आबादी" का साथ आना लाजिमी था। गृहयुद्ध के ठीक पहले गांवों में ग़रीब किसान समितियों के ज़रिये राजनीतिक वर्ग विभेदीकरण को अंजाम देने की शुरुआत ही की थी, जब गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर ने इस प्रक्रिया को बाधित कर दिया और स्वस्थ रूप से नहीं चलने दिया, जिसके कारण मंझोले किसान भी निशाने पर आ गये और अन्तत: हानि पर नियंत्रण पाने के लिए 'नेप' के रूप में 'रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने' पड़े।

नतीजतन, 1921 में 'नेप' के रूप में खेती के समाजवादी रूपान्तरण की ओर आगे बढ़ने की बजाय, सोवियत सत्ता को गांवों में पूंजीवादी तत्वों को कुछ छूट देनी पड़ी, जैसा कि हमने ऊपर इंगित किया है। यह नीति अपनी उम्र से ज़्यादा जीवित रह गयी और 1926 आते-आते 'नेप' की नीति का संकट और सीमाएं स्पष्ट होने लगीं। लेकिन पार्टी के भीतर दक्षिणपंथी बुखारिनपंथी धड़े व अन्य पूंजीवादी पथगामियों के प्रतिरोध के कारण यह नीति जारी रही और 1929 में संकट के गम्भीर होने के रूप में परिणत हुई। नतीजतन, 1929 में कुलकों के वर्ग के विरुद्ध 'आपात कदमों' को उठाने का निर्णय लिया गया। इसी दौर में स्तालिन ने पार्टी के भीतर बुखारिनपंथी दक्षिणपंथ की आलोचना पेश की और खेती के समाजवादी रूपान्तरण की वांछनीयता को रेखांकित करते हुए निम्न शब्द कहे, जो कि हमारे भोण्डे सस्ते देसी बुखारिन, यानी पीआरसी के बौद्धिक बौने पर भी शब्दश: लागू होते हैं:

“In the conditions prevailing in our country, the peasantry consists of various social groups, namely, the poor peasants, the middle peasants and the kulaks. It is obvious that our attitude to these various groups cannot be the same. The poor peasant as the *support* of the working class, the middle peasant as the *ally*, **the kulak as the *class enemy***—such is our attitude to these social groups. All this is clear and generally known.

“Bukharin, however, regards the matter somewhat differently. **In his description of the peasantry this differentiation is omitted, the existence of social groups disappears, and there remains but a single drab patch, called the countryside. According to him, the kulak is not a kulak, and the middle peasant is not a middle peasant, but there is a sort of uniform poverty in the countryside.** ***(आज भी धनी किसानों-कुलकों की गोद में बैठे सामाजिक-जनवादियों से लेकर पीआरसी के बौद्धिक बौने तक, तमाम लोग इसी प्रकार की बुखारिनपंथी बातें कर रहे***

हैं-लेखक) **That is what he said in his speech here: Can our kulak really be called a kulak? He said. Why, he is a pauper! And our middle peasant, is he really like a middle peasant? Why, he is a pauper, living on the verge of starvation. Obviously, such a view of the peasantry is a radically wrong view, incompatible with Leninism.**

"Lenin said that the individual peasantry is *the last capitalist class*. Is that thesis correct? Yes, it is absolutely correct. Why is the individual peasantry defined as the last capitalist class? Because, of the two main classes of which our society is composed, the peasantry is the class whose economy is based on private property and small commodity production. Because the peasantry, as long as it remains an individual peasantry carrying on small commodity production, produces capitalists from its midst, and cannot help producing them, constantly and continuously.

"This fact is of decisive importance for us in the question of our Marxist attitude to the problem of the alliance between the working class and the peasantry. This means that we need, not *just any kind* of alliance with the peasantry, but only *such an alliance* as is based on the struggle against the capitalist elements of the peasantry.

"As you see, Lenin's thesis about the peasantry being the last capitalist class not only does not contradict the idea of an alliance between the working class and the peasantry, but, on the contrary, supplies the basis for this alliance as an alliance between the working class and the majority of the peasantry directed against the capitalist elements in general and against the capitalist elements of the peasantry in the countryside in particular.

"Lenin advanced this thesis in order to show that the alliance between the working class and the peasantry can be stable only if it is based on the struggle against those capitalist elements which the peasantry produces from its midst.

"Bukharin's mistake is that he does not understand and does not accept this simple thing, he forgets about the social groups in the countryside, he loses sight of the kulaks and the poor peasants, and all that remains is one uniform mass of middle peasants." (Stalin, **The Right Deviation in the C.P.S.U. (B)**)

पहले की चर्चा में हम देख चुके हैं कि लेनिन जब पूंजीपति वर्ग के जबरन खात्मे की बात करते हैं और वहीं धनी किसानों और कुलकों के वर्ग के पूर्ण सम्पत्ति-हरण नहीं बल्कि उनके संघर्ष और तोड़ फोड़ के प्रयासों और सोवियत सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध और प्रतिक्रान्ति में हिस्सेदारी के दमन की बात करते हैं तो भी इसका मतलब यह नहीं है कि लेनिन उस वक़्त उन्हें बुर्जुआ वर्ग का हिस्सा नहीं मानते थे। लेनिन वहाँ केवल सोवियत समाजवादी राज्य की ग्रामीण पूंजीपति वर्ग के एक विशिष्ट हिस्से के प्रति तात्कालिक नीति को बयान कर रहे हैं। यह हिस्सा है धनी किसानों का वह सामाजिक संस्तर जो कि अपनी अतिरिक्त भूमि के अधिग्रहण व रैडिकल बुर्जुआ पुनर्वितरणकारी भूमि सुधारों का प्रतिरोध नहीं कर रहा था, सोवियत सत्ता के विरुद्ध प्रतिक्रान्तिकारियों के साथ नहीं शामिल था। यह तात्कालिक नीति पूर्णत: बुर्जुआ भूमि सुधारों के दायरे में ही थी, न कि समाजवादी खेती के कार्यक्रम के कार्यान्वयन का अंग थी।

लेकिन इस मंजिल में भी लेनिन धनी किसानों व कुलकों को शत्रु वर्ग के रूप में ही चिन्हित कर रहे थे, हालांकि उनके विरुद्ध उठाए जाने वाले

ठोस कदम उस समय के रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम के दायरे में निर्धारित हो रहे थे। **लेकिन स्तालिन के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि समाजवादी भूमि सुधार की मंजिल आने के साथ ये ठोस कदम भी अलग स्वरूप ले रहे थे। सामूहिकीकरण के आन्दोलन की शुरुआत के बाद कुलकों/धनी किसानों के साथ सोवियत सत्ता ने क्या किया, यह हम ऊपर सप्रमाण और ससन्दर्भ देख चुके हैं।**

कुल मिलाकर देखें तो लेनिन का नज़रिया साफ़ है कि 'किसान बुर्जुआज़ी' बुर्जुआ वर्ग का ही हिस्सा है और उसमें व शहरी बुर्जुआ वर्ग में गुणात्मक तौर पर कोई अंतर नहीं है। दोनों ही पूंजीवादी उत्पादन करते हैं, मुनाफा पीटते हैं, उजरती श्रम का शोषण करते हैं। साथ ही, ऐसा भी नहीं है कि लेनिन कुलक या धनी किसान को बुर्जुआ वर्ग का हिस्सा नहीं मानते थे, जैसा कि मास्टरजी दावा कर रहे हैं। यह 'किसान बुर्जुआज़ी' को बुर्जुआ वर्ग से अलग करके पेश करने का गोरेन्फ्लो का कर्मकाण्डीय नुस्खा ही है जिसके ज़रिये मास्टरजी भारत के धनी किसानों-कुलकों को भी 'किसान बुर्जुआज़ी' बताकर पूंजीपति वर्ग से अलग करते हैं और अपनी वर्ग सहयोगवादी कार्यदिशा का पक्षपोषण करते हैं, हालांकि उन्हें यह पता ही नहीं है कि 'किसान बुर्जुआजी' ग्रामीण बुर्जुआजी का हिस्सा ही होती है, जैसा कि हम ऊपर लेनिन के सन्दर्भ से स्पष्ट कर चुके हैं। **और स्तालिन के उपरोक्त उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि समाजवादी कार्यक्रम को खेती के क्षेत्र में लागू करने की मंजिल में धनी किसानों व कुलकों का वर्ग किसी भी रूप में सहयोगी या मित्र नहीं बन सकता है, बल्कि उसका एक वर्ग के तौर पर ख़ात्मा करना और उनका सम्पत्ति-हरण करना ही इस मंजिल का मूल कार्यभार होता है।**

लेकिन मास्टरजी के अनुसार कुलक-धनी किसान वर्ग सामूहिक फार्म तक में सहभागी हो सकते हैं और इन्हें एकाधिकारी पूंजीपतियों के समान जनता का दुश्मन मानना ग़लत है। इन कुतर्कों के आधार पर वह नतीजा निकालते हुए बताते हैं कि

"1) in a special case when the whole peasantry is stirred against a common enemy, a proletarian revolution can be carried out to secure power for the proletariat in the cities by overthrowing the bourgeoisie from power even without stirring and waging class struggle in the countryside for the time being, which can be started after attaining power as the second phase of the proletarian revolution. 2) in special circumstances when the whole of peasantry is in great turmoil over the very question of their existence against a common enemy, the working class must try to rise to its crest in its struggle of power against bourgeoisie 3) the rich peasants per se are not bourgeoisie otherwise such a tactics may prove fruitful. 4) And because of this i.e. because the rich peasants are not bourgeoisie, the attitude towards them in the second phase of the proletarian revolution, too can vary from time to time, can be anything from buying time for peace with them and suppressing their attempted revolt to expropriating or eliminating them altogether as a class as it happened in the USSR when the kulaks having got emboldened by Bukharin and Trotsky...

"The true fact about it is that it was stirred and waged from above giving assistance to the poor peasants after realising that kulaks are grabbing most of the confiscated land and properties of the landed estates through the existing communes where they were in dominant position historically. This happens after eight months of assuming state power in the cities. Even then, expropriation of the kulaks was not on the immediate agenda of the party or the state as we have seen..." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

इसके बाद दोन किहोते महोदय बताते हैं कि हम यह सुनकर बेहद नाराज़ हो जाएंगे कि समाजवादी क्रान्ति में कुलकों को साथ लिया गया। बिल्कुल हम नाराज़ होंगे क्योंकि ऐसी निपट नंगई से की जाने वाली प्रचण्ड मूर्खता और बेईमानी से कोई भी मार्क्सवादी व्यक्ति नाराज़ ही होगा! देखें मास्टरजी क्या लिखते हैं-

“October Socialist Revolution with the kulaks alongside the proletariat and the poor peasants! Impossible!! They would invariably like to jibe at Lenin, too. But they can't. Had they read these words of Lenin in which he said that like middle peasants, we don't have anything against you either..

“If the kulaks had not resisted the proletarian state, if we so imagine for a moment, what would have been the course of history is only a matter of conjecture. But one thing is sure that if the peasant bourgeoisie (not the rural capitalists) have had to face the large-scale bourgeois farming under the control of Corporate or big capital as they are facing in India now, Engels' formulae of applying least force against them have had all the fair chance to be applied the attitude of the party and the state towards the middle peasants was changed from neutralising them to making firm alliance with them and later making them a bonafide partner of socialism as we can see in their continued partnership in collective farm mass movement since 1928 and till its conclusion in the latter half of the 30s. This change in party and state attitude towards the middle peasants was brought under the direct leadership of Lenin in the famous 8th congress of the party. In this congress Lenin also defined the general attitude of the state towards the kulak or big peasants. In this regard, there was no break in policy as such from the past.”(ibid)

उपरोक्त मूर्खतापूर्ण बातों में कई का खण्डन हम ऊपर कर चुके हैं, जिनकी याद दिला कर हम आगे बढ़ेंगे।

हमने ऊपर लेनिन और बोल्शेविक पार्टी द्वारा कुलकों और धनी किसानों के प्रति अपनाये जाने वाले रुख पर चर्चा की है और दिखलाया है कि (1) अक्तूबर 1917 की क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधार की सीमा से आगे नहीं गयी थी और आज के भारत में समाजवादी क्रान्ति के समक्ष ऐसी कोई स्थिति ही नहीं है; (2) इस मंजिल में एक हद तक "समूची किसान आबादी" का शामिल होना लाजिमी था; (3) इस मंजिल में भी कुलक व धनी किसान शत्रु वर्ग ही थे, लेकिन उनका पूर्ण सम्पत्ति-हरण नहीं किया जाना था क्योंकि तत्काल समाजवादी भूमि कार्यक्रम यानी सामूहिकीकरण को लागू करना एजेण्डा पर नहीं था; (4) 1918 की गर्मियों में, गृहयुद्ध के शुरू होने के ठीक पहले, लेनिन के निर्देश पर ग़रीब किसान समितियों द्वारा किसान आबादी के राजनीतिक विभेदीकरण के कार्य और कुलकों के प्रतिरोध के दमन के कार्य की शुरुआत हुई; (5) लेकिन गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज्म" की नीतियों के दौरान हुई भूलों के कारण कुलकों पर निर्देशित कुछ हमले मंझोले किसानों पर भी हुए और मंझोले किसान सोवियत सत्ता से अलगावग्रस्त होने लगे; (6) इसकी वजह से अन्ततः 'नेप' की नीतियों के ज़रिये रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने की बाध्यता पैदा हुई; (7) इसके कारण कुलक व व्यापारी वर्ग के पूंजीवादी तत्वों को भी कुछ छूट मिली; (8) नेप की नीति 1926-27 तक सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुंचने लगी थी, लेकिन पार्टी के भीतर बुखारिन व कुछ अन्य के दक्षिणपंथी भटकावों के कारण उसे तत्काल समाप्त नहीं किया जा सका; (9) इसके कारण 1929 तक स्थिति बेहद ख़राब हो गयी और आपातकालीन कदमों को उठाना पड़ा और फिर 1930 से बड़े पैमाने पर सामूहिकीकरण का अभियान शुरू किया गया, जिसमें कुलकों व धनी किसानों का सम्पत्ति-हरण ही किया गया और सामूहिक फार्मों की स्थापना की गयी।

लेनिन यह भी बताते हैं (ऊपर हमारे द्वारा उद्धृत एक उद्धरण में) कि कुलकों के साथ युद्ध होना अनिवार्य था और यह समाजवादी रूपान्तरण तक जारी रहेगा। यह *माटसाब* की कल्पना मात्र है कि कोई ऐसी स्थिति भी हो सकती थी, जिसमें कि समाजवादी भूमि कार्यक्रम के लागू होने के सूरत में कुलकों व धनी किसानों का वर्ग भी साथ में आ जाएगा। ***माटसाब* कहते हैं कि 'दूसरे चरण' में वर्ग संघर्ष शुरू होगा; लेकिन दूसरे चरण में वर्ग संघर्ष शुरू होगा किसके खिलाफ? क्योंकि बड़े इजारेदार पूंजीपतियों को तो पहले चरण में ही सम्पत्ति-हरण का निशाना बना लिया गया था और वे एक वर्ग के रूप में समाप्त हो चुके थे! अगर गांवों में खेतिहर मज़दूर, ग़रीब किसान, मंझोले किसान और धनी किसान/कुलक, सभी को एक होकर वर्ग संघर्ष करना था, तो यह वर्ग संघर्ष करना किसके खिलाफ था? पाठक देख सकते हैं कि कुलकों के पाजामे का नाड़ा बनने को मचल उठे इस बौद्धिक बौने की मानसिक स्थिति क्या है।**

यहां पीआरसी के लेखक महोदय कहते हैं कि धनी किसान और कुलक समाजवादी क्रान्ति के 'दूसरे चरण' में भी सहयोगी वर्ग के तौर पर मौजूद

रह सकते थे। हम दिखलाएंगे कि ऐसा कुछ भी नहीं है। आम तौर पर कृषि नीति में पार्टी द्वारा गृहयुद्ध के बाद किये गये परिवर्तन के पीछे भी विशिष्ट परिस्थितियां थीं, जिनको *माटसाब* द्वारा बेहद चालाकी के साथ ग़ायब कर दिया गया है। आइये थोड़ा तफ़सील से देखते हैं।

रूस की क्रान्ति में 'अप्रैल थीसिस' के बाद बोल्शेविकों द्वारा समाजवादी-क्रान्तिकारियों के रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपनाने, 1918 की गर्मियों में गांवों में गरीब किसानों की कमेटियों के साथ वर्ग संघर्ष छेड़ने, गृहयुद्ध और उसके बाद 'नेप' की नीतियों में पार्टी को परिस्थितिवश कई फ़ैसले लेने पड़े जिनका संदर्भ काट हमारे कठमुल्ला मास्टरजी इन्हें गणितीय सूत्र और समाजवादी संक्रमण के आम सिद्धान्त में तब्दील कर देते हैं। लेनिन नवम्बर 1918 में ही लिखते हैं:

"**Our task in the rural districts is to destroy the landowner and smash the resistance of the exploiter and the kulak profiteer. For this purpose we can safely rely** *only* **on the semi-proletarians, the 菟oor peasants**

- **But the middle peasant is not our enemy. He wavered, is wavering, and will continue to waver. The task of influencing the waverers** *is not identical* **with the task of overthrowing the exploiter and defeating the active enemy. The task at the present moment is to come to an agreement with the middle peasant謡hile not for a moment renouncing the struggle against the kulak and at the same time firmly relying solely on the poor peasant庸or a turn in our direction on the part of the middle peasants is now inevitable owing to the causes enumerated above."** (Lenin, **The Valuable Admissions of Pitirim Sorokin**, Collected Works, Volume 28, p. 193, *emphasis ours*)

लेनिन स्पष्ट करते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के इस 'दूसरे चरण' में गांव के बुर्जुआ वर्ग, यानी कुलकों व धनी किसानों के खिलाफ़ वर्ग संघर्ष का ऐलान करना था, हालांकि सामूहिकीकरण का समाजवादी भूमि कार्यक्रम अभी तत्काल एजेण्डा पर नहीं था, क्योंकि ऐसे रूपान्तरण कानून बनाकर नहीं किये जा सकते हैं, बल्कि राजनीतिक वर्ग शक्तियों के ज़रिये किये जा सकते हैं। इसीलिए लेनिन कोमिण्टर्न में दिये अपने बयान (जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं) में कहते हैं कि अभी सामूहिकीकरण के लिए सामाजिक स्थितियां, आर्थिक स्थितियां और तकनीकी स्थितियां अनुकूल नहीं हैं, लेकिन फिर भी कुलक/धनी किसानों का सम्पत्ति-हरण न करने के बावजूद भी वे शत्रु वर्ग की श्रेणी में ही आते हैं।

इसलिए पहला कार्यभार था गांवों में कुलकों व धनी किसानों को अलगावग्रस्त कर, ग़रीब व मंझोले किसानों को उनके राजनीतिक प्रभाव से निकालना और गांवों में वर्ग संघर्ष की शुरुआत करने का यही अर्थ था। 1918 की गर्मियों में गरीब किसानों की समितियों के जरिये यह काम शुरू हुआ भी। यह भी पार्टी की ***सचेतन नीति*** थी जिसे पटना के दोन किहोते कुलकों की कार्रवाई की जवाब में की जाने वाली प्रतिक्रियात्मक कार्रवाई मात्र बनाकर पेश करते हैं। लेकिन लेनिन बताते हैं कि कुलकों व धनी किसानों का प्रतिरोध होना ही था, वह स्वाभाविक था, वह कोई विशिष्ट अपवादस्वरूप हो रही घटना नहीं थी। साथ ही हमारे मास्टरजी इस बात पर भी ताली पीट रहे हैं कि वर्ग संघर्ष शुरू होने पर भी बोल्शेविक पार्टी कुलकों को वर्ग के रूप में ख़त्म करने की ओर नहीं बढ़ रही थी।

"After October Revolution, the class struggle was waged with the formation of poor peasant committees that enjoyed the full support and help of the proletarian state. It had become the symbol of Soviet power in the rural areas. The tactics with respect to middle peasants was to neutralise them, while tactics towards kulaks was to restrict their power/strength and suppress their resistance to working class power and its orders. The question of expropriating them didn't come directly or then and there." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

आप देख सकते हैं कि मास्टरजी का यह विश्लेषण ऐतिहासिक परिस्थितियों को पुन: गोल कर देता है। ग़रीब किसान समितियों का गठन गांवों

में रैडिकल जनवादी भूमि सुधारों का भी प्रतिरोध कर रहे, गृहयुद्ध, साम्राज्यवादी घेराबन्दी व अकाल की स्थिति में जमाखोरी, कालाबाज़ारी और मुनाफ़ाखोरी कर रहे कुलकों व धनी किसानों के वर्ग के प्रतिरोध को तोड़ना था। इसी कार्य को आगे समाजवादी कार्यक्रम के अमल तक आगे बढ़ाया जाना था। **लेकिन चूंकि तात्कालिक प्रश्न रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम को पूर्णता के साथ लागू करना और गृहयुद्ध व साम्राज्यवादी घेराबन्दी की स्थितियों में कुलकों के प्रतिरोध को तोड़ना व फसल-वसूली करना था, इसलिए सम्पत्ति-हरण का प्रश्न तात्कालिक प्रश्न नहीं था और हो भी नहीं सकता था क्योंकि सामूहिकीकरण तत्काल एजेण्डा पर था ही नहीं।**

लेकिन कुलकों व धनी किसानों की भी अतिरिक्त ज़मीन का अधिग्रहण किया गया, जो कि बुर्जुआ रैडिकल भूमि सुधार के दायरे में आता था। मास्टरजी को यह नहीं समझ में आ रहा है कि सोवियत रूस में और फिर सोवियत संघ में 1930-31 से पहले सामूहिकीकरण, यानी कि समाजवादी कृषि कार्यक्रम को लागू करने की शुरुआत ही नहीं हुई थी। **ऐसे में, यह पूछना कि 1918 के बाद कुलकों व धनी किसानों का पूर्ण सम्पत्ति-हरण नहीं किया गया, बल्कि केवल उनके प्रतिरोध को कुचला गया, एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न है। क्यों? क्योंकि तब जो भूमि कार्यक्रम लागू किया जा रहा था, उसमें यह लक्ष्य था ही नहीं। दूसरी बात, यदि इस बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम को लागू करने में भी कुलक व धनी किसान वर्ग प्रतिरोध कर रहा था, तो भी वह किसी भी परिभाषा से मित्र वर्ग की श्रेणी में नहीं आता है, और न ही ऐसा लेनिन का मानना था, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। *माटसाब* अपनी इस मूर्खतापूर्ण बात को साबित करने के लिए काफी द्रविड़ प्राणायाम कर रहे हैं, लेकिन बात बन नहीं रही है।**

मंझोली किसानी का प्रश्न और लेनिन की कार्यदिशा का ऐतिहासिक सन्दर्भ

"युद्ध कम्युनिज्म" के दौरान भी बोल्शेविक पार्टी की स्पष्ट कार्यदिशा थी कि मंझोले किसान वर्ग को तटस्थ किया जाय, उसके ढुलमुलपन को कम किया जाय और उसे मित्र बनाया जाय। लेकिन मंझोले किसानों की एक आबादी पर भी ग़रीब किसान समितियों ने फसल-वसूली और प्रतिरोध को कुचलने की प्रक्रिया में चोट की, क्योंकि मंझोले किसानों में जो उच्च मध्यम किसानों का संस्तर था, उसमें कुलकों का साथ देने व जमाखोरी करने की प्रवृत्ति थी। उसकी इस प्रवृत्ति के साथ ग़रीब किसान समितियों को दूसरी तरह से व्यवहार करना था, जो कि पार्टी के सख़्त नियंत्रण में न होने के कारण नहीं हो सका और साथ ही स्वयं पार्टी के भीतर तमाम संगठनकर्ताओं की "वामपंथी'' ग़लतियों के कारण भी ऐसा नहीं हो सका। नतीजतन, मंझोले किसानों के वर्ग का एक विचारणीय हिस्सा सोवियत सत्ता से अलगाव में जाने लगा और कई जगह कुलकों के साथ मिलकर प्रतिरोध करने लगा।

अक्तूबर 1917 के बुर्जुआ जनवादी पुनर्वितरणकारी भूमि सुधार के बाद मध्यम किसानों की आबादी समूची किसान आबादी में सर्वाधिक हो गयी थी और उसे अलगावग्रस्त कर सोवियत सत्ता टिक नहीं सकती थी। इसलिए सर्वहारा राज्यसत्ता के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए समाजवादी भूमि कार्यक्रम की ओर जल्दी आगे बढ़ने का प्रश्न ही एजेण्डा से हट गया और तात्कालिक तौर पर लक्ष्य 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना' (strategic retreat) हो गया, यानी गांव में पूंजीवादी तत्वों को अस्थायी रूप से कुछ छूट देना। 'नेप' की नीति का एक हिस्सा यह भी था जिसमें लेनिन ने उत्पाद-कर (tax in kind) की नीति को पेश किया जिसके अनुसार सोवियत सत्ता को उत्पाद का एक निश्चित हिस्सा किसानों द्वारा सौंपा जाना था जिसके बाद बचने वाले उत्पाद को ये किसान खुले बाज़ार में बेचने के लिए स्वतंत्र थे। निश्चित तौर पर, यह कुलकों व व्यापारियों के वर्ग को एक छूट थी और साथ ही इस सम्भावना को भी जन्म देना था कि मंझोले किसानों के संस्तर से भी एक नया कुलक वर्ग पैदा होगा और वह हुआ भी। लेकिन उस समय यह छूट देना सोवियत सत्ता के अस्तित्व को बचाने के लिए एक अनिवार्य कदम बन चुका था।

'नेप' और मंझोले किसानों के साथ अपनाई जाने वाली नीति में आए फ़र्क पर सोवियत समाजवादी प्रयोग पर ऊपर उल्लिखित लेख में अभिनव विस्तारपूर्वक लिखते हैं कि:

"पार्टी ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को सही तरीक़े से संचालित और दिशा-निर्देशित नहीं कर पायी। नतीजतन, जिन प्रहारों का निशाना कुलकों और धनी किसानों को बनाया जाना था, उनका निशाना अक्सर मँझोले किसान बन गये। लेनिन की यह समझदारी थी कि ग़रीब किसान

समितियों को मँझोले किसानों को जीतना होगा या फिर उन्हें तटस्थ बनाना होगा ताकि धनी किसानों और कुलकों को अलगावग्रस्त किया जा सके। लेकिन कई मौक़ों पर इन समितियों के दिशाहीन प्रहारों की ज़द में मँझोले किसान भी आ गये और इसने मँझोले किसानों को, जो कि अब किसान आबादी के प्रमुख घटक थे, बोल्शेविकों से दूर किया और धनी किसानों से संश्रय बनाने को प्रेरित किया। लेकिन बेतेलहाइम ने इन सारी बारीकियों को नज़रन्दाज़ करना पसन्द किया है ताकि वह इस ग़ैर-लेनिनवादी और ग़ैर-माओवादी विचार को स्थापित कर सकें कि पूरी की पूरी किसान आबादी समाजवादी रूपान्तरण पर सहमत हो सकती है, या स्वेच्छा से समाजवाद की ओर जा सकती है और इसीलिए वह ग़रीब किसान समितियों के बनाये जाने को ही एक ग़लत क़दम मानते हैं। लेनिन जानते थे कि समाजवादी निर्माण का सबसे मज़बूत आधार गाँवों में ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी है। धनी किसानों को अलगावग्रस्त करने के लिए मध्यम किसान आबादी को कम-से-कम तटस्थ बनाना होगा। यह मध्यम किसानों की आबादी आगे राजनीतिक तौर पर विभाजित होगी। अपनी मेहनत के आधार पर खेती करने वाले और उजरती श्रम का शोषण न करने वाले अधिकांश मध्यम किसानों को समाजवाद पर राज़ी किया जा सकता है और वह समाजवाद की ओर आ सकते हैं। लेकिन वह उच्च मध्यम किसान आबादी जो कि उजरती श्रम का शोषण करती है, उसका एक छोटा हिस्सा ही समाजवाद पर सहमत होगा। माओ ने भी 'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना' में स्पष्ट किया था कि मध्यम किसान वर्ग कोई एकाश्मी वर्ग नहीं है और जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी उच्च मध्यम किसान उतने मज़बूत मित्र नहीं साबित होंगे जितने कि निम्न मध्यम किसान। बेतेलहाइम ग़रीब किसान समितियों को पूर्ण असफलता क़रार देते हैं। यह भी लेनिन की समझदारी के बिल्कुल विपरीत है, जो कि कई ठोस कार्यभारों में असफलता के बावजूद ग़रीब किसान समितियों के निर्माण को एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कदम मानते थे।

"लेनिन मँझोले किसानों से मज़बूत संश्रय बनाने की बात रूसी क्रान्ति के विशिष्ट अनुभवों के सन्दर्भ में कर रहे थे। लेनिन इस संश्रय को क़ायम करने पर अतिशय ज़ोर इसलिए दे रहे थे क्योंकि त्रात्स्की के अतिवामपन्थी-दक्षिणपन्थी भटकाव का पार्टी के अच्छे-ख़ासे हिस्से पर प्रभाव था और इस भटकाव के कारण ही "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में कुछ अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुई थीं। लेनिन ने ज़ोर देकर कहा कि फसल वसूली के कार्यक्रम में ज़ोर-ज़बरदस्ती केवल धनी किसानों और कुलकों के वर्ग के लिए आरक्षित है। इसकी ज़द में मँझोले किसान कतई नहीं आने चाहिए। लेनिन के इस ज़ोर की व्याख्या बेतेलहाइम अपने किसानवादी दृष्टिकोण से करते हैं और मँझोले किसानों के समूचे वर्ग को समाजवाद का स्वाभाविक मित्र बना डालते हैं! जबकि लेनिन के इस ज़ोर का विशिष्ट सन्दर्भ था "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की अतिरेकपूर्ण ग़लतियों के कारण मँझोले किसानों का पार्टी से अलगाव जो कि सोवियत सत्ता के लिए प्राणान्तक हो सकता था, जैसा कि एक वर्ष के भीतर स्पष्ट भी हो गया। लेनिन की पूरी समझदारी का चरित्र यहाँ पर रणनीतिक नहीं बल्कि रणकौशलात्मक था। **मँझोले किसानों के बारे में लेनिन के पूरे लेखन को किनारे करके गृहयुद्ध के दौरान और उसके ठीक बाद की आपातस्थितियों में और विशेष तौर पर आठवीं कांग्रेस में इस बाबत उनके भाषण को सन्दर्भों से काटकर बेतेलहाइम ग़लत तरीके से व्याख्यायित करते हैं, ताकि लेनिन की अवस्थिति का किसानवादी विनियोजन किया जा सके।"** (अभिनव, **सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (तीसरी किस्त)**, *दिशा संधान, अंक-3*)

अपने तरीके से ठीक यही कुकर्म पीआरसी का बौद्धिक मसखरा कर रहा है। स्पष्ट है कि मंझोले किसानों को एकाश्मी संस्तर मानना ही भूल है, लेकिन आम तौर पर पार्टी उजरती श्रम का शोषण न करने वाले किसानों को समाजवादी संक्रमण में कतई ज़ोर-ज़बर्दस्ती की ज़द में नहीं लाएगी और उदाहरण पेश करके और राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रेरणा के साथ उन्हें सामूहिकीकरण की मुहिम में शामिल करेगी, जैसा कि लेनिन ने अपने एक ऊपर उद्धृत उद्धरण में स्पष्ट किया है। लेकिन कुलक व धनी किसान वर्ग का एक हिस्सा तो रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम को अमली जामा पहनाने की प्रक्रिया में भी प्रतिरोध कर रहा था और उनके प्रतिरोध का दमन भी स्वाभाविक था, हालांकि इस मंजिल में उनका पूर्ण सम्पत्ति-हरण कतई एजेण्डा पर नहीं था और हो भी नहीं सकता था। मास्टरजी को यह बात समझ में नहीं आती कि भूमि कार्यक्रम के मामले में अभी रूसी क्रान्ति जनवादी कार्यक्रम को ही अमल में लाने की मंजिल में थी और समाजवादी कार्यक्रम को कृषि क्षेत्र में लागू करने का काम ही करीब एक दशक बाद शुरू हुआ। **जब समाजवादी भूमि कार्यक्रम लागू हुआ तब राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रेरणा के ज़रिये सामूहिकीकरण करने के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर कुलकों, धनी किसानों व उच्च मध्यम किसानों का सम्पत्ति-हरण ही किया गया और सामूहिक व राजकीय फार्मों की स्थापना की गयी। उस मंजिल में धनी किसानों या कुलकों के एक वर्ग के तौर पर मित्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। लेकिन चूंकि मास्टरजी को सोवियत समाजवाद के इतिहास के बारे में कोई जानकारी ही नहीं है, इसलिए वह कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा जोड़ने में दुबले हुए जा रहे हैं, ताकि अपने कुतर्क को अपने कोचिंग सेण्टर के**

छात्रों के समक्ष सही सिद्ध कर सकें।

आप देख सकते हैं कि बेतेलहाइम की ही तरह लेनिन का एक किसानवादी विनियोजन मास्टरजी भी करते हैं और वह भी लेनिन के गृहयुद्ध के दौरान और उसके बाद पैदा हुई स्थितियों के दौरान लिखे गए लेखों और ख़ासकर आठवीं कांग्रेस के भाषण को संदर्भ से काटकर, हालांकि अगर लेनिन के आठवीं कांग्रेस में दिये गये भाषणों को भी माटसाब ने पूरा पढ़ा होता तो उन्हें पता चल जाता कि कुलक व धनी किसान अक्तूबर क्रान्ति में व उसके ठीक बाद भी लेनिन के लिए मित्र वर्गों की श्रेणी में नहीं आते थे, हालांकि उनका तत्काल सम्पत्ति-हरण एजेण्डा पर नहीं था और न ही हो सकता था। आगे अभिनव स्पष्ट करते हैं:

"आगे बढ़ने से पहले 1919 से मृत्यु तक लेनिन के किसान प्रश्न के बारे में चिन्तन पर थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी होगा। **'सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थशास्त्र और राजनीति', 'आर.सी.पी. (बी) के आठवें अखिल रूसी सम्मेलन में रिपोर्ट', 'कृषि कम्यूनों और कृषि आर्तेलों की प्रथम कांग्रेस पर भाषण', 'नवीं पार्टी कांग्रेस में पेश रिपोर्ट', 'आठवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट', 'टैक्स इन काइण्ड'** और **'अक्तूबर क्रान्ति की चौथी वर्षगाँठ'** जैसी रचनाओं में लेनिन ने किसान प्रश्न पर लिखा है। इनमें लेनिन मँझोले किसानों से मज़बूत गठजोड़ बनाने की बात करते हैं। लेकिन यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन की यह अवस्थिति उन परिस्थितियों के कारण थी जिनमें रूसी क्रान्ति ने अपने आपको पाया था। **पहली बात** तो यह है कि लेनिन मँझोले किसानों के दोहरे चरित्र के बारे में शुरू से स्पष्ट थे। यानी कि एक ओर अपने ख़ून-पसीने पर जीने वाला मेहनतकश और दूसरी ओर उजरती श्रम का शोषण करने वाला टटपुँजिया उत्पादक। लेनिन मँझोले किसानों के वर्ग के इन दो हिस्सों के बीच स्पष्ट फर्क करते हैं। लेनिन ने 1919 के बाद बार-बार स्पष्ट किया कि मँझोला किसान अब कुल रूसी किसान आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा है और उसके साथ एक मज़बूत गठजोड़ सोवियत सत्ता के अस्तित्व को बनाये रखने की एक पूर्वशर्त है। शुरुआत में इस प्रश्न के हल के लिए लेनिन की उम्मीदें यूरोप के कुछ उन्नत देशों और विशेष तौर पर जर्मनी में क्रान्ति पर टिकी थीं, जिसके बाद सोवियत मज़दूर सत्ता अपने आपको टिकाने की स्थिति में आ सकती थी। लेकिन 1920 का अन्त होते-होते ये उम्मीदें बिखर चुकी थीं। इसके बाद भी लेनिन का यह भरोसा था कि रूस में समाजवाद का निर्माण हो सकता है, हालाँकि यह प्रक्रिया पहले की अपेक्षा ज़्यादा जटिल और लम्बी होगी। इस दौर में सोवियत सत्ता को मँझोले किसानों से सुदृढ़ संश्रय बनाने के लिए उन्हें रियायतें देनी होंगी, मुक्त व्यापार को छूट देनी होगी, और इस प्रकार पूँजीवाद को थोड़ी छूट देनी होगी, लेकिन इसी के साथ सोवियत राज्यसत्ता को राजकीय मालिकाने के तहत तीव्र उद्योगीकरण करना होगा और लघु किसान अर्थव्यवस्था और राजकीय उद्योग के बीच विनिमय को संचालित करना होगा। इसके अतिरिक्त, सोवियत राज्यसत्ता को इस पूँजीवाद को सतत् नियन्त्रण में रखना होगा और उसे चोरी, जमाखोरी आदि की इजाज़त नहीं देनी होगी और साथ ही उसे बही-खातों यानी लेखा के ज़रिये आर्थिक तौर पर विनियमित करना होगा। और साथ ही इस बीच सोवियत सत्ता को ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों को सबसे पहले सहकारी, सामूहिक और फिर राजकीय खेती के लिए राज़ी करना होगा, लेकिन बिना ज़ोर-ज़बरदस्ती के। लेनिन इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि 'नयी आर्थिक नीति' के इन प्रावधानों के लागू होने पर मध्यम किसानों के बीच से ही धनी किसानों का एक वर्ग पैदा होगा और किसान आबादी का विभेदीकरण बढ़ेगा। लेनिन के मृत्यु के कुछ महीनों बाद ही 'नेपमैन' के वर्ग के पैदा होने की चर्चा होने लगी थी, जिनमें कि धनी किसानों और व्यापारियों का वर्ग प्रमुख था। लेनिन इस वर्ग के पैदा होने की समस्या को नियन्त्रित करने के बारे में अपनी मृत्यु के पहले भी सोच ही रहे थे। लेकिन उनके चिन्तन की दिशा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि वह जीवित रहते तो एक बार फिर वह किसान वर्ग को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने के उस नतीजे पर ही पहुँचते जिस पर वह 1918 के मध्य में पहुँचे थे। और इस विभेदीकरण के साथ ही सामूहिकीकरण की मुहिम को चलाया जा सकता था। **लेनिन ने एक बार कहा था कि आप एक पूरे वर्ग को मूर्ख नहीं बना सकते।** उसी प्रकार पूरी की पूरी मँझोली किसानी को समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी नहीं किया जा सकता है। समाजवादी कार्यक्रम पर निम्न मँझोले किसानों के वर्ग के बड़े हिस्से को सहमत किया जा सकता है जो कि अपनी मेहनत के बूते जीता है; लेकिन उच्च मध्यम किसानों का छोटा हिस्सा ही समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो सकता है।

"'नेप' की नीति की तार्किक परिणति यही हो सकती थी कि एक ऐसा दौर आता जब कि सोवियत सत्ता और समाजवाद को बचाने के लिए सामूहिकीकरण की नीति को लागू करना ही पड़ता, जिसमें कि ग़रीब किसानों और निम्न मध्यम किसानों के वर्ग को मुख्य तौर पर साथ में लेना होता। लेनिन ने 'नेप' के पूरे दौर में सोवियत सर्वहारा सत्ता के सतत् सुदृढ़ीकरण पर विशेष बल दिया था ताकि सही रणनीतिक क्षण में नये समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) को आयोजित किया जा सके। लेनिन के अन्तिम दौर के

लेखन से ये सारी चीज़ें एकदम स्पष्ट तौर पर सामने नहीं आती हैं। **लेकिन अगर लेनिन के इस विषय पर लेखन को समग्रता में और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जाय तो उसे सन्दर्भित करने और उनके चिन्तन की दिशा को समझने में मदद मिलती है।** 1919 से 1923 तक लेनिन के लेखन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक सर्वहारा यथार्थवादी क्रान्तिकारी के तौर पर वह रूसी क्रान्ति की जटिल स्थिति को समझ रहे थे और इसी परिप्रेक्ष्य में मध्यम किसानों से संश्रय कायम करने की बात उन्होंने कही है। उनके लिए सबसे प्रमुख बात थी सर्वहारा राजनीतिक सत्ता को कायम रखना और अन्य देशों में सर्वहारा क्रान्तियाँ न होने की सूरत में सधे हुए क़दमों से रूस में समाजवाद के निर्माण की ओर आगे बढ़ना। निश्चित तौर पर, लेनिन उन समस्याओं का समाधान पहले ही नहीं पेश कर सकते थे जो कि सोवियत सत्ता को 1927 से 1930 के बीच में झेलनी पड़ीं, जिसका कारण था 'नेप' की नीतियों का ज़रूरत से ज़्यादा खिंच जाना और 'रणनीतिक तौर पर क़दम पीछे हटाने' की प्रक्रिया को सही समय पर न रोकना। इसी के कारण 'नेपमैन' का वर्ग सुदृढ़ीकृत हुआ, पार्टी में उसके विचारधारात्मक और राजनीतिक प्रतिनिधि पैदा हुए और 1929 आते-आते उन्होंने सोवियत सत्ता के लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया। **1930 में सामूहिकीकरण के अभियान के शुरू होने के बाद, देर से ही सही, इस समस्या का सही दिशा में समाधान स्तालिन ने शुरू किया।"** (अभिनव, **सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (तीसरी किस्त)**, *दिशा संधान, अंक-3*)

लेनिन स्पष्ट करते हैं कि 'नेप' के दौर में हमने पूंजीवाद को रियायतें दी हैं:

"The task that confronts the local workers is to collect the tax in kind in full, and do so in the shortest possible time. The difficulties are increased by the fact that the harvest promises to be an unusually early one this year, and if our preparations are based on the customary dates, we run the risk of being too late.

…

"That is one task. The other is to maximise the peasant's freedom of trade and the revival of small-scale industry, so as to allow some leeway to the capitalism that grows up on the basis of small private property and petty trade. We should not be afraid of it, for it is not dangerous to us in the least." (Lenin, TENTH ALL-RUSSIAN CONFERENCE OF THE R.C.P.(B.))

यहां यह स्पष्ट है कि लेनिन के अनुसार यह 1918 के दौर से पीछे क़दम हटाना था क्योंकि इसमें बुर्जुआ तत्वों को रियायतें दी गई थीं। आगे लेनिन यह भी लिखतें हैं कि

"We need not fear it at all in view of the general economic and political situation that has now arisen, with the proletariat controlling all the sources of large-scale production, and denationalisation in any shape or form entirely out of the question. At a time when we are suffering most of all from a severe shortage of goods and utter impoverishment, it is ridiculous to fear the threat of capitalism based on small commercial agriculture. To fear it is to fail altogether to take account of ***the relation of forces in our economy***. It means to fail to understand that the peasant economy, as a small-scale peasant economy, cannot be stable at all without some free exchange and the attendant capitalist relations."(ibid)

और देखें लेनिन क्या लिखते हैं-

"Of course, in our Soviet Republic, the social order is based on the collaboration of two classes: the workers and peasants, in which the **"Nepmen", i.e., the bourgeoisie, are now permitted to participate on certain terms.** If

serious class disagreements arise between these classes, a split will be inevitable. But the grounds for such a split are not inevitable in our social system, and it is the principal tasks of our Central Committee and Central Control Commission, as well as of our party as a whole, to watch very closely over such circumstances as may cause a split, and to forestall them, for in the final analysis the fate of our Republic will depend on whether the ***peasant masses*** will stand by the working class, loyal to their alliance, or whether they will permit the **"Nepmen", i.e., *the new bourgeoisie***, to drive a wedge between them and the working class, to split them off from the working class. The more clearly we see this alternative, the more clearly all our workers and peasants understand it, the greater are the chances that we shall avoid a split which would be fatal for the Soviet Republic." (Lenin, **How We Should Reorganise the Wokers' and Peasants' Inspection**)

लेनिन के लेखों और उपरोक्त उद्धृत अभिनव के लेख की चर्चा से साफ़ है कि गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में पैदा हुई विशिष्ट परिस्थितियों के चलते ही पार्टी ने तात्कालिक तौर पर खेती में पूंजीवादी तत्वों (धनी व उच्च मध्यम किसानों) को कुछ छूटें देने का निर्णय लिया। यह कुछ समय के लिए 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना' था और अगले समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) की तैयारी के लिए मोहलत लेना था, क्योंकि सोवियत रूस की विशिष्ट स्थिति में मंझोले किसानों (जो कि किसान आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा बन चुके थे) का अलगावग्रस्त होना सोवियत सत्ता के लिए ख़तरनाक था। इस नज़रिये की पुष्टि 'नेप' की नीतियों में होती है। लेकिन इतिहास के संदर्भों को गोलकर जो अवधारणा हमारे मास्टरजी पेश करते हैं वह एक आम सूत्रीकरण में तब्दील हो जाती है और इस पूरी बात को वह ऐसे प्रस्तुत करते हैं कि रूसी क्रान्ति में धनी किसानों को एक हद तक बर्दाश्त करना समूचे समाजवादी संक्रमण का एक आम रणनीतिक नारा था और सामूहिकीकरण में भी धनी किसानों को प्यार से समझा-बुझाकर शामिल किये जाने की सम्भावना थी। यह एकदम बकवास बात है और यह सम्भव ही नहीं है।

जैसा कि हमने पहले पूछा था कि जब *माटसाब* के अनुसार गांव में वर्ग संघर्ष शुरू होगा और उनके अनुसार खेतिहर मज़दूरों, ग़रीब किसानों, मंझोले किसानों और धनी किसानों का मोर्चा बन जाएगा, तो यह मोर्चा वर्ग संघर्ष करेगा किसके खिलाफ क्योंकि बड़े पूंजीपतियों का सम्पत्ति-हरण तो पहले ही सम्पन्न हो चुका है! **यहां पर मास्टरजी ने एक बार फिर से अपने बुखारिनपंथी दक्षिणपंथ को पूरी तरह से बेनक़ाब कर दिया है। मास्टरजी यह तक कह डालते हैं कि यह पॉलिसी समाजवादी क्रान्ति के 'दूसरे चरण' में भी लागू होती है! हम देख सकते हैं कि पटना के हमारे दोन किहोते महोदय गृहयुद्ध की आपातस्थिति और उसके कारण 'नेप' की नीति के प्रस्ताव को समझ पाने में पूरी तरह अक्षम हैं। यह हैमलेट के समान बस "शब्द, शब्द, शब्द" पढ़ते हैं और उन शब्दों के ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने में पूरी तरह से नाकाम रहते हैं।**

एंगेल्स का 'बड़ा किसान' और पूंजीवादी फार्मर: *माटसाब* के भ्रम, विभ्रम, सम्भ्रम, मतिभ्रम, दिग्भ्रम

मास्टरजी एंगेल्स की इस उक्ति को कि हमें बड़े किसानों को भी समाजवाद में शामिल करने की कोशिश करनी चाहिए को भी इतिहास के संदर्भों से काट देते हैं और बताते हैं कि भारत की मौजूदा स्थिति में भी यह उक्ति लागू की जाएगी। लेकिन सबसे मज़ेदार बात यह है कि इस बौद्धिक बौने ने पूरी रचना नहीं पढ़ी जिसके कारण उसे समझ में ही नहीं आया है कि यहां 'बड़ा किसान' किसे कहा जा रहा है।

पहले तो यह समझ लेना चाहिए कि एंगेल्स की उपरोक्त रचना में 'बड़ा किसान' पूंजीवादी फार्मर या 'किसान बुर्जुआजी' नहीं है, बल्कि बड़ी जोत रखने वाले किसानों का वह संस्तर है, जिसमें से पूंजीवादी फार्मर पैदा होता है। यूरोप के तमाम देशों में पूंजीवाद के खेती में विकास के पहले भी भूमि आबण्टन की अलग-अलग व्यवस्थाओं के मातहत बड़े, मंझोले और छोटे किसान थे। किसानों का यह तिहरा वर्गीकरण पूंजीवाद के साथ ही नहीं पैदा होता है, हालांकि पूंजीवाद के पहले इन तीनों का ही एक साझा शत्रु होता है: सामन्तवाद। लेकिन पूंजीवादी विकास के साथ बड़े किसानों (यानी बड़ी जोत व अधिक संसाधन रखने वाले किसान) में से ही पूंजीवादी फार्मरों या किसान बुर्जुआजी का वर्ग

पैदा होता है। उसके पास बड़ी जोत होती है, जिसके कारण वह केवल पारिवारिक श्रम के बूते काम नहीं चला पाता और नतीजतन कालान्तर में कुछ नौकर व दिहाड़ी मज़दूर भी रखने लगता है। आगे, वह बाज़ार के लिए और मुनाफे के लिए पैदा करने लगता है, मुनाफे के एक हिस्से का पुनर्निवेश करने लगता है और पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी के रूप में उभरता है।

एंगेल्स अपनी उक्त रचना में बड़े किसान की चर्चा एक पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी के रूप में नहीं कर रहे हैं, बल्कि उस बड़े किसान वर्ग की बात कर रहे हैं, जिनके बीच से पूंजीवादी विकास के साथ एक पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी का वर्ग पैदा होता है। वह पहले से ही उपयुक्त रूप से पूंजीवादी चरित्र नहीं रखता है। वह अभी माल उत्पादन की शुरुआत कर रहा है, बड़ी जोत के कारण कुछ नौकरों व दिहाड़ी मज़दूरों को रखना भी शुरू कर चुका है, लेकिन अभी वह सामान्य माल उत्पादन से आगे नहीं गया है। वह अतिरिक्त मूल्य को पूंजी में रूपान्तरित कर विस्तारित पुनरुत्पादन नहीं कर रहा है। वह अभी एक संक्रमणशील अवस्था में है। एंगेल्स इसी वजह से कहते हैं कि कई मामलों में सभी धनी किसानों के साथ भी ज़ोर-ज़बर्दस्ती ज़रूरी नहीं भी हो सकती है और यह सम्भावना भी हर मामले में पूर्ण होना मुश्किल है, जैसा कि रूस के उदाहरण में हुआ और लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में बताया।

लेकिन मास्टरजी को लगता है कि एंगेल्स यहां पर एक पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी की बात कर रहे हैं और कह रहे हैं कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में उसे भी मित्र बनाया जा सकता है! एंगेल्स पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी में तब्दील होने की प्रक्रिया से गुज़र रहे बड़े किसान को केवल सामन्तवाद के खिलाफ़ ही एक मित्र के रूप पेश करते हैं। देखें, उक्त रचना में एंगेल्स क्या लिखते हैं:

"**I flatly deny that the socialist workers' party of any country is charged with the task of taking into its fold, in addition to the rural proletarians and the small peasants, also the idle and big peasants and perhaps even the tenants of the big estates, the capitalist cattle breeders and *other capitalist exploiters* of the national soil. To all of them, the feudality of landownership may appear to be a common foe.** On certain questions, we may make common cause with them and be able to fight side by side with them for definite aims." (Engels, **The Peasant Question in France and Germany,** *emphasis ours*)

और देखें एंगेल्स क्या लिखते हैं:

"We now come to the bigger peasants. Here as a result of the **division of inheritance** as well as indebtedness and forced sales of land we find a variegated pattern of intermediate stages, from small-holding peasant to **big peasant proprietor, who has retained his old patrimony intact or even added to it.** Where the middle peasant lives among small-holding peasants, his interests and views will not differ greatly from theirs; he knows, from his own experience, how many of his kind have already sunk to the level of small peasants. But where middle and big peasants predominate and the operation of the farms requires, generally, the help of male and female servants, it is quite a different matter. Of course a workers' party has to fight, in the first place, on behalf of the wage-workers — that is, for the male and female servantry and the day laborers. It is unquestionably forbidden to make any promises to the peasants which include the continuance of the wage slavery of the workers. But, as long as the big and middle peasants continue to exist, as such they cannot manage without wage-workers. If it would, therefore, be downright folly on our part to hold out prospects to the small-holding peasants of continuing permanently to be such, it would border on treason were we to promise the same to the big and middle peasants." (*ibid, emphasis ours*)

आगे एंगेल्स यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि यहां बड़े किसानों से उनका मतलब उन बड़े किसानों से है, जिनके पास बड़ी जोतें हैं और

नतीजतन, वे कुछ नौकर व दिहाड़ी मज़दूर तो रखने लगे हैं, लेकिन अभी वे पूंजीवादी माल उत्पादक नहीं हैं। वे बड़े किसानों की तुलना पूंजीपति वर्ग से नहीं बल्कि शहर के बड़े दस्तकारों से करते हैं, जो कुछ *जर्नीमेन* को भी काम पर रखते हैं, लेकिन अभी वे पूंजीवादी माल उत्पादक बने नहीं हैं, बल्कि एक संक्रमणकालीन अवस्था में हैं और इस संक्रमण से कुछ ही बड़े दस्तकार पूंजीपति बनकर उभरेंगे, जबकि बाकी बरबाद होकर सर्वहारा की कतार में शामिल होंगे। देखें, एंगेल्स क्या लिखते हैं:

"We have here again the parallel case of the handicraftsmen in the cities. True, they are more ruined than the peasants, but there still are some who employ journeymen in addition to apprentices, or for whom apprentices do the work of journeymen. Let those of these master craftsmen who want to perpetuate their existence as such cast in their lot with the anti-Semites until they have convinced themselves that they get no help in that quarter either. The rest, who have realized that *their mode of production* (*that is, petty commodity production-Author*) is inevitably doomed, are coming over to us and, moreover, are ready in future to share the lot that is in store for all other workers. **The same applies to the big and middle peasants.** It goes without saying that we are more interested in their male and female servants and day laborers than in them themselves. If these peasants want to be guaranteed the continued existence of their enterprises, we are in no position whatever to assure them of that. They must then take their place among the anti-Semites, peasant leaguers, and similar parties who derive pleasure from promising everything and keeping nothing. **We are economically certain that the big and middle peasants must likewise inevitably succumb to the competition of *capitalist production***, and the cheap overseas corn, as is proved by the growing indebtedness and the everywhere evident decay of these peasants as well. We can do nothing against this decay except recommend here too the pooling of farms to form co-operative enterprises, in which the exploitation of wage labor will be eliminated more and more, and their gradual transformation into branches of the great national producers' co-operative with each branch enjoying equal rights and duties can be instituted. If these peasants realize the inevitability of the doom of their present mode of production *(which is not properly capitalist as yet, but more akin to the mode of production of handicraftsmen, that is, simple commodity production – Author)* and draw the necessary conclusions they will come to us and it will be incumbent upon us to facilitate, to the best of our ability, also their transition to the changed mode of production. Otherwise, we shall have to abandon them to their fate and address ourselves to their wage-workers, among whom we shall not fail to find sympathy. *Most likely*, we shall be able to abstain here as well from resorting to forcible expropriation, and as for the rest to count on future economic developments making also these harder pates amenable to reason." (*ibid, emphasis ours*)

एंगेल्स स्पष्ट करते हैं कि **बड़े किसानों के विपरीत ये बड़े पूंजीवादी फार्म और एस्टेट हैं,** जहां पर सीधे और स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी उत्पादन जारी है और यहां पर हमारा लक्ष्य बिल्कुल स्पष्ट है: सम्पत्ति-हरण और सामूहिकीकरण। एंगेल्स लिखते हैं:

"Only the big landed estates present a perfectly simple case. **Here, we are dealing with undisguised capitalist production and no scruples of any sort need restrain us.** Here, we are confronted by rural proletarians in masses and our task is clear. As soon as our Party is in possession of political power, **it has simply to expropriate the big landed proprietors, just like the manufacturers in industry...**The big estates, thus restored to the community, are to be turned over by us to the rural workers who are already cultivating them and are to be organized into co-operatives. They are to be assigned to them for their use and benefit under the control of the community. Nothing can as yet be stated as to the terms of their tenure. **At any rate, the transformation**

of the capitalist enterprise into a social enterprise is here fully prepared for and can be carried into execution overnight, precisely as in Mr. Krupp's or Mr. von Stumm's factory. And the example of these agricultural co-operatives would convince also the last of the still resistant small-holding peasants, and surely also many big peasants, of the advantages of cooperative, large-scale production." (*ibid, emphasis ours*)

उपरोक्त उद्धरणों से आप समझ सकते हैं कि **एंगेल्स बड़े किसान को किसान बुर्जुआजी और पूंजीवादी फार्मर से अलग रखते हैं**, हालांकि यही वह वर्ग है जिसमें से पूंजीवादी फार्मर पैदा होता है; साथ ही, वह यह भी बताते हैं कि जो बड़े किसान समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी नहीं हैं, उन्हें बचाने का कोई भी वायदा उनसे करना समाजवादी पार्टी/कम्युनिस्ट पार्टी का काम नहीं है, एक शिक्षा, जिसे *माटसाब* जैसे अवसरवादी भूल चुके हैं, जोकि "उचित दाम" का झुनझुना बजाते हुए कुलकों के ट्रैक्टर के पीछे लोट-पोट हो रहे हैं। बहरहाल, पूंजीवादी विकास की इस प्रक्रिया में कई बड़े किसान तबाह भी होते हैं, जबकि कुछ पूंजीवादी फार्मर या किसान बुर्जुआजी में तब्दील होते हैं। यह प्रक्रिया भारत में भी घटित हो चुकी है। एंगेल्स बताते हैं कि बड़े किसान अभी शहरी दस्तकारों के समान सामान्य माल उत्पादन में लगे हैं और पूंजीवादी माल उत्पादक में तब्दील नहीं हुए हैं, हालांकि बड़ी जोत के कारण वे कुछ नौकर और मज़दूर काम पर रखने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे शहर के उस्ताद दस्तकार रखते हैं। लेकिन अभी वे मार्क्स के शब्दों में उपयुक्त रूप में पूंजीवादी (properly capitalist) नहीं बने हैं, क्योंकि अभी वे बेशी मूल्य का पूंजी में रूपान्तरण कर विस्तारित पुनरुत्पादन नहीं कर रहे, पूंजी संचय नहीं कर रहे, और अधिक ज़मीनें नहीं खरीद रहे या किराए पर ले रहे, और मुनाफे को अधिकतम बनाना उत्पादन की प्रेरक शक्ति नहीं बना है। यह है एंगेल्स का 'बड़ा किसान'। अगर माटसाब ने अललटप्पू ढंग से उद्धरण छांटने की बजाय, एंगेल्स की पूरी रचना पढ़ी होती तो शायद उनको यह बात समझ में आ जाती। लेकिन हमारे दोन किहोते का पूरा ध्यान तो अपने सांचो पांजाओं और किसी काल्पनिक दलसीनिया के सामने अपनी बची-खुची "इज्जत" बचाना है, इसलिए वह हर प्रकार की बौद्धिक तमीज़ और अनुशासन भूल चुके हैं।

क्या मास्टरजी को लगता है कि पंजाब और हरियाणा के धनी फार्मर महज़ एंगेल्स द्वारा बताए गए "बड़े किसान" हैं, यानी जो अभी उपयुक्त रूप से पूंजीवादी नहीं बने हैं और शहर के दस्तकारों/कारीगरों के समान हैं, जो कुछ नौकर और शागिर्द रखते हैं? अगर उन्हें ऐसा लगता है, तो उन्हें पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और अब देश के सभी हिस्सों में ही कुलक व पूंजीवादी फार्मर की अर्थव्यवस्था का थोड़ा अध्ययन कर लेना चाहिए। यह वर्ग बाकायदा पूंजी संचय कर रहा है, खेती में यांत्रिकीकरण कर रहा है, बेशी मूल्य का पूंजी में रूपान्तरण कर बाज़ार के लिए नकद फसलों के उत्पादन को विस्तारित कर रहा है, अपने पूंजी निवेश को वैविध्यकृत कर रियल एस्टेट, उद्योगों, वाणिज्यिक उपक्रमों और सूदखोरी में लगा रहा है। निम्न लिंक देखें, जिसमें पंजाब के धनी किसानों व कुलकों द्वारा अपनी पूंजी संचय के पुनर्निवेश के वैविध्यकरण और सूदखोरी से होने वाली अदस्तावेज़ीकृत आय का विवरण दिया गया है:
https://www.firstpost.com/business/money-lending-by-punjabs-rich-farmers-is-widening-the-wealth-gap-in-states-countryside-4437131.html

पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी फार्मरों व कुलकों में तो यह प्रवृत्ति ज़बर्दस्त पैमाने पर हैं और इस पर कई अध्ययन भी हो चुके हैं। पिछले चार दशकों में पंजाब में केवल ट्रैक्टरों, हार्वेस्टरों, पम्पों की संख्या में वृद्धि बताती है कि पूंजी निर्माण की प्रक्रिया सुचारू रूप से जारी है, उत्पादन का लक्ष्य मुनाफे को अधिक से अधिक बनाना है। सिर्फ पंजाब में 2001 से 2019 के बीच ट्रैक्टरों की संख्या 3,95,000 से बढ़कर 4,50,200 हो गयी, सेल्फ-प्रोपेल्ड कम्बाइन हार्वेस्टर की संख्या 2900 से बढ़कर 7980 हो गयी। पंजाब में हर 9 हेक्टेयर पर एक ट्रैक्टर है, जबकि भारत का औसत 62 हेक्टेयर पर एक ट्रैक्टर है। देश के कुल ट्रैक्टरों का 11 प्रतिशत केवल पंजाब में है। फिलहाल, यांत्रिकीकरण की दर में उत्तर प्रदेश आगे निकल गया है, क्योंकि यांत्रिकीकरण वहां देर से शुरू हुआ है। निरपेक्ष पैमानों में पंजाब और हरियाणा सबसे आगे हैं। मार्क्सवाद के किसी भी विद्यार्थी को पता है कि पूंजी का तकनीकी संघटन (technical composition of capital) और पूंजी का आवयविक संघटन (organic composition of capital) के बढ़ने का क्या अर्थ होता है। यह पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन की प्रमुख निशानी है। यह पूंजीवादी विकास ही है जिसके कारण 2011 आते-आते उजरती मज़दूरों की संख्या भारतीय खेती में किसानों से ज़्यादा हो गयी है, जिसकी 1970 के दशक में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। 2011 में ही खेतिहर मज़दूरों की संख्या 14.2 करोड़ और अर्द्धसर्वहारा (2 हेक्टेयर से कम भूमि वाले ग़रीब किसान) की संख्या 10 करोड़ से अधिक हो चुकी थी, जबकि धनी व उच्च मध्यम किसानों की संख्या

मुश्किल से एक से डेढ़ करोड़ थी। किसान आबादी का यह तीव्र और ध्रुवीय विभेदीकरण किस चीज़ की निशानी है? यह पूंजीवादी विकास व कुलक-धनी फार्मर अर्थव्यवस्था के विकास का परिणाम है। धनी किसानों व कुलकों की संख्या में कमी आई है, जबकि उनके मातहत ज़मीन के संकेन्द्रण में बढ़ोत्तरी हुई है। यह भी खेती में पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण का ही परिणाम है, जो कि कुलकों व धनी फार्मरों की मुनाफखोरी के कारण बढ़ रहा है। और लाभकारी मूल्य की पूरी मांग ही इस मुनाफे को अधिकाधिक बनाने की ही मांग है, जिसमें कि यह वर्ग राज्यसत्ता से औसत मुनाफे की दर के ऊपर बेशी मुनाफा सुनिश्चित करने वाले दाम मांग रहा है। पंजाब में भी बड़ी जोतों की संख्या या तो स्थिर है या घटी है, लेकिन उसके मातहत भूमि संकेन्द्रण बढ़ा है (यानी चार हेक्टेयर से अधिक जोतों की संख्या घटी है, लेकिन उसके मातहत भूमि का संकेन्द्रण बढ़ा है)। **यह सब पूंजीवादी खेती की निशानियां हैं, न कि ''बड़े किसानों'' के मातहत हो रहे सामान्य माल उत्पादन की निशानियां।**

लेकिन मास्टरजी को बस "बड़ा किसान" शब्द मिल गया और बिना पूरी रचना पढ़े, बिना उसका ऐतिहासिक सन्दर्भ समझे, उन्होंने उसे यहां चेंप दिया। इसीलिए हमने पिछली किश्त में भी कहा था, मास्टरजी कोचिंग में पढ़ाते-पढ़ाते टीप कर खर्रे बनाने वाली पद्धति के आदी हो गये हैं। लेकिन विज्ञान में टीपकर खर्रे बनाने से काम नहीं चलता है, आपको पूरा सिद्धान्त और सन्दर्भ समझना पड़ता है।

साथ ही, यहां यह भी स्पष्ट करना ज़रूरी है कि समूची किसान आबादी का एक साझा शत्रु केवल एक ही सूरत में सम्भव होता है, जैसा कि ऊपर एंगेल्स के उद्धरण में भी बताया गया है: सामन्ती ज़मीन्दार वर्ग। इसके अतिरिक्त, पूंजीवाद की मंजिल में समूची किसान आबादी का कोई साझा शत्रु नहीं होता है। यह ज़रूर है कि धनी किसानों, कुलकों, व्यापारियों, छोटे कारखाना मालिकों का बड़े पूंजीपति वर्ग से अन्तरविरोध होता है, और यह स्वाभाविक भी है। हमेशा ही गैर-इजारेदार और अपेक्षाकृत छोटे पूंजीपति वर्ग (शहरी व ग्रामीण) का बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग से अन्तरविरोध होता ही है, लेकिन पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था के दौर में यह अन्तरविरोध शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध नहीं होता और किसी भी सूरत में इस अन्तरविरोध के कारण सर्वहारा वर्ग का पूंजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से से कोई रणनीतिक मोर्चा नहीं बन सकता है। यही वह सीधी-सी बात है, जो मास्टरजी के सिर के ऊपर से बाउंसर के समान निकल जा रही है।

-

आगे बढ़ने से पहले अब तक की चर्चा का एक संक्षिप्त समाहार कर लेना उपयोगी होगा।

जैसा कि हमने ऊपर सप्रमाण देखा, लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के 'पहले चरण' के तहत समूची किसान आबादी को साथ लेने से पहले और उसके बाद भी बार-बार अपनी रचनाओं में कुलकों, धनी किसानों और 'किसान बुर्जुआज़ी' को दुश्मन वर्ग ही कहा है, वहीं मंझोली किसानी को रणकौशलात्मक नारे के तहत सहयोगी बताया है। इस दौर का रणनीतिक नारा मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान वर्ग की एकता का नारा ही हो सकता है। मई 1918 में जो वर्ग युद्ध शुरू हुआ था वह कुलकों और धनी किसानों के ख़िलाफ़ ही था और साथ ही रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार की प्रक्रिया में भी कुलकों व धनी किसानों की अतिरिक्त ज़मीन का अधिग्रहण किया गया। जैसा की हमने ऊपर भी उद्धृत किया है कि "युद्ध कम्युनिज्म'' के दौर की नीतियों में कुलकों और धनी किसानों के साथ-साथ मंझोले किसानों के साथ भी अतियां हुई थी जिससे मज़दूर-किसान संश्रय भी संकट में पड़ गया था। इस कारण से ही लेनिन ने 'नेप' की नीति की वक़ालत की जो कि एक प्रकार से 'रणनीतिक तौर पर क़दम पीछे हटाना' था। इस दौर में कुलकों और धनी किसानों को भी रियायतें मिली। लेकिन इतिहास के इस पूरे सन्दर्भ को ग़ायब कर हमारे बुखारिनपन्थ के देसी भोंडे संस्करण यानी कि *दोन किहोते दि ला पटना* इसे ऐसे पेश करते हैं कि अक्तूबर 1917 में समूची किसान आबादी क्रान्ति के साथ आई (जिस हद तक रूसी क्रान्ति ने खेती में जनवादी कार्यभार को ही पूरा किया, उस हद तक बड़े भूस्वामियों को छोड़कर, पूरी किसानी का साथ आना स्वाभाविक था) और जब 1918 में वर्ग संघर्ष की शुरुआत हुई तो उसमें भी "बेहद अमीर किसान'' न ही मुख्य निशाना थे जबकि कुलकों-धनी किसानों का वर्ग, जिन्हें कि मास्टरजी 'किसान बुर्जुआज़ी' कहना पसंद करते हैं और उसे पूंजीपति वर्ग से अलग मानते हैं (!), उनके निशाने पर नहीं थे! **पहली बात तो बात ही यह तथ्यत: ग़लत है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।**

अक्तूबर 1917 में और फिर मई 1918 में भी कुलक व धनी किसान ही निशाने पर थे, हालांकि उनकी पूर्ण सम्पत्ति-हरण का कार्यभार अभी

तत्काल एजेण्डा पर नहीं था, क्योंकि अभी सामूहिकीकरण का कार्यक्रम नहीं लागू किया जा रहा था, बल्कि एक रैडिकल बुर्जुआ जनवादी पुनर्वितरणकारी भूमि कार्यक्रम लागू किया जा रहा था। दूसरी बात, जब सोवियत संघ में सामूहिकीकरण की शुरुआत हुई तो इसी धनी किसान व कुलक वर्ग का सम्पत्ति-हरण किया गया था, जिस पर कि साम्राज्यवादी मीडिया आज तक हाय-तौबा मचाता है। कायदे से *माटसाब* को भी उनके कोरस में शामिल हो जाना चाहिए, क्योंकि उनके अनुसार तो समाजवादी क्रान्ति के 'दूसरे चरण' में भी धनी किसानों व कुलकों को प्यार से समझाना-बुझाना था! मास्टरजी को लगता है कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में भी धनी किसानों और कुलकों के साथ मित्र वर्गों जैसा बर्ताव किया गया और उसे समझा-बुझाकर सामूहिकीकरण कर लिया गया! **यह रूसी क्रान्ति के इतिहास का भयानक विकृतिकरण नहीं है तो और क्या है?** मास्टरजी ने एक बार फिर यह साबित कर दिया है कि न तो उन्हें वर्ग संघर्ष की गतिकी ही समझ में आती है और न ही उन्हें सोवियत समाजवाद के इतिहास के बारे में ही कोई जानकारी है। और जब हमने अपनी पिछली आलोचना में इनकी इस अधकचरी समझदारी और अज्ञान को इंगित किया था तो यह बौखला उठे थे! पाठक स्वयं देख सकते हैं कि इस बार भी दोन किहोते महाशय ने वर्ग सहयोग की अपनी कार्यदिशा को सही ठहराने के लिए सोवियत इतिहास का कुत्सित विकृतिकरण किया है।

उपरोक्त चर्चा में हमने पटना के दोन किहोते की दो प्रमुख ग़लतियों को रेखांकित किया है: एक, वह सोवियत क्रान्ति के पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को ग़ायब कर देते हैं और ऐसा करते हुए रूसी क्रान्ति की विशिष्ट रणकौशलात्मक नीति को समाजवादी संक्रमण की आम रणनीति के रूप में पेश करते हैं। इस क़िस्म के भोंडे विश्लेषण की ख़ासियत यह है कि इसमें रूसी क्रान्ति के दौरान, अलग-अलग मंजिल पर कृषि में मौजूद उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग अन्तरविरोध नदारद हो जाते हैं और उसकी जगह *"साझा शत्रु बनाम "समूची किसान आबादी" व मज़दूर वर्ग"* का अर्थहीन नारा ले लेता है। जबकि सच्चाई यह है कि समूची किसान आबादी का साझा शत्रु केवल सामन्तवाद ही हो सकता है, और समूची किसान आबादी के साथ मज़दूर वर्ग का मोर्चा भी अपूर्ण या अधूरे जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने तक ही बन सकता है। अक्तूबर 1917 में जिस हद तक यह मोर्चा बना था, वह इसी वजह से बना था क्योंकि अक्तूबर 1917 में रूसी क्रान्ति खेती के क्षेत्र में मूलत: जनवादी कार्यभार को ही पूरा करने तक सीमित थी, न कि सामूहिकीकरण के समाजवादी कार्यक्रम को लागू कर रही थी। लेकिन मास्टरजी को इन दो चरणों के बीच अन्तर समझ में नहीं आता है।

क्या भारत में आज समाजवादी क्रान्ति को रूसी क्रान्ति के समान गांवों में मूलत: जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे? नहीं! न तो भारत में आज उस रूप में अपूर्ण जनवादी कार्यभार हैं और न ही वर्ग शक्तियों का सन्तुलन वैसा है और न ही वे विशिष्ट स्थितियां हैं, जो कि रूसी क्रान्ति के समक्ष थी। लेकिन इस समूचे ऐतिहासिक सन्दर्भ से अनभिज्ञ मास्टरजी को लगता है कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में पूंजीवादी किसान (किसान बुर्जुआजी), कुलकों व धनी किसानों को भी मित्र वर्ग बनाया जाएगा! **सवाल यह उठता है कि गांव के सारे वर्ग समाजवादी क्रान्ति में मित्र वर्ग होंगे, तो यह मित्रता होगी किसके खिलाफ? मास्टरजी के दिमागी बौनेपन को यहां स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।**

दूसरा, बेहद शातिराना तरीक़े से हमारे मास्टरजी कुलकों और बड़े-धनी किसानों के वर्ग को 'किसान बुर्जुआज़ी' बताते हैं जोकि उनके अनुसार पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं थे और आज भी नहीं हैं! हम ऊपर देख चुके हैं कि 'धनी किसान', 'किसान बुर्जुआजी', 'पूंजीवादी किसान', 'ग्रामीण बुर्जुआजी', 'कुलक' शब्दों को लेकर *माटसाब* के दिमाग़ में ग़ज़ब गड्डमड्ड पैदा हो गया है। उन्हें किसी भी शब्द का सही अर्थ नहीं पता है और वह अपने से इन शब्दों पर मूर्खतापूर्ण अर्थ आरोपित करके अपनी वर्ग सहयोगवादी कार्यदिशा और भोंडे बुखारिनंपथ को सही ठहराने का हास्यास्पद प्रयास करते हैं। यह उनकी साधू गोरेन्फ्लो वाली चालबाज़ी है जिसे हम पहले भी देख चुके हैं, जिसने तंत्र-मंत्र कर मुर्गे के मांस को मछली के मांस में तब्दील कर दिया था। हमने ऊपर यह दिखाया है कि 'किसान बुर्जुअज़ी' और कुछ नहीं खेतिहर पूंजीपति वर्ग का ही अंग है और उद्यमी पूंजीवादी फार्मर है, और लेनिन से लेकर स्तालिन तक के लिए यह वर्ग समाजवादी भूमि कार्यक्रम को लागू करने की मंजिल में ही नहीं, बल्कि रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को लागू करने की मंजिल में भी शत्रु वर्ग की ही भूमिका में था।

आगे बढ़ते हैं।

क्या गांवों में वर्ग संघर्ष के बिना ही समाजवादी क्रान्ति हो सकती है?

यहां एक और बात की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। लेनिन ने निश्चित तौर पर यह कहा कि गांवों में समाजवाद के लिए वर्ग संघर्ष को तत्काल छेड़े बिना रूस में समाजवादी क्रान्ति को अंजाम दिया जा सकता है क्योंकि खेती में अभी जनवादी कार्यभार को पूरा करना ही प्रमुख कार्य है, और सत्ता पर काबिज़ होने के बाद सर्वहारा वर्ग गांवों में ग़रीब किसानों को संगठित कर समाजवाद के लिए वर्ग संघर्ष की शुरुआत कर सकता है और फिर सावधानीपूर्वक और कदम-दर-कदम मंझोली किसानी को साथ लेते हुए वर्ग शक्ति सन्तुलन को उस स्थिति तक पहुंचा सकता है, जहां पर कि समाजवादी भूमि कार्यक्रम, यानी सामूहिकीकरण को लागू किया जा सके। लेनिन ने यह भी बताया कि सोवियत रूस की विशिष्ट स्थितियों में यह प्रक्रिया लम्बी और जटिल साबित होने वाली है। **लेकिन इसका यह अर्थ निकालना कि अक्तूबर क्रान्ति में गांवों में वर्ग संघर्ष ही नहीं हो रहा था और उसके बिना ही समाजवादी क्रान्ति शहरों में कामयाब हो गयी, दिखलाता है कि *माटसाब* लेनिन के विचारों के नहीं बल्कि त्रात्स्की के विचारों के ज्यादा करीब हैं।**

सच्चाई यह है कि लेनिन ने गांवों में जनवादी कार्यक्रम को लागू करने और सामन्ती ज़मीन्दारों के विरुद्ध कार्रवाई करने वाली भूमि समितियों के आन्दोलन को क्रान्ति की एक तात्विक शक्ति बताया और उसे बोल्शेविकों द्वारा सहयोजित किया, ताकि शहरों में सर्वहारा सत्ता को उस वर्ग का समर्थन हासिल हो, जो कुल आबादी में 85 प्रतिशत था और जिसके सक्रिय समर्थन के बिना सोवियत सत्ता टिकना तो दूर स्थापित भी नहीं हो सकती थी। त्रॉत्स्की का मानना था कि किसान आबादी एक अज्ञात चर राशि होती है और वह बुर्जुआजी के सत्ता में आने पर उसके पीछे चल पड़ती है और सर्वहारा वर्ग के सत्ता में आने पर उसके पीछे। और इसलिए बोल्शेविकों को केवल शहरों में सत्ता पर कब्ज़ा करने पर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उसके बाद किसान खुद-ब-खुद साथ आ जाते। लेनिन ने त्रॉत्स्की के इस तख्तापलटवादी (putschist) तर्क को खण्डित करते हुए बताया कि गांवों में जारी किसानों के आम क्रान्तिकारी जनवादी आन्दोलन को सहयोजित किये बिना रूस जैसे देश में सर्वहारा वर्ग सत्ता पर काबिज़ होने की कल्पना भी नहीं कर सकता है। यह सच नहीं है कि शहरों में आम बग़ावत कर सत्ता पर कब्ज़ा कर लेने से किसान पक्ष में आ जाएंगे, बल्कि सच यह है कि किसानों के आम जनवादी आन्दोलन को पक्ष में लेकर ही शहरों में आम बग़ावत के ज़रिये सत्ता पर कब्ज़ा किया जा सकता है और सत्ता पर काबिज़ रहा जा सकता है। देखें, मॉरिस डॉब ने लेनिन का अनुसरण करते हुए इसके बारे में क्या लिखा है:

“Most powerful of the currents that were carrying events towards the Soviet revolution of November was the elemental movement among the peasants, who were effecting the seizure of the landed estates by direct action on a growing scale.” (Maurice Dobb, **Soviet Economic Development since 1917**)

वास्तव में, लेनिन ने लगातार समाजवादी-क्रान्तिकारियों को किसान जनसमुदाय के समक्ष बेनक़ाब किया, जो कि किसानों से किये गये अपने वायदे से मुकर रहे थे और किसानों द्वारा "गैर-कानूनी" ज़मीन कब्ज़े का विरोध कर रहे थे। लेनिन ने जून 1917 में बाकायदा एक लेख लिखकर किसानों द्वारा भूस्वामियों की ज़मीनों पर कब्ज़े के आन्दोलन का समर्थन किया और मास्लोव जैसे समाजवादी-क्रान्तिकारियों का पर्दाफाश किया जो कि भूमि समितियों के इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे (Lenin, 'On the "Unauthorized" Seizure of Land: Flimsy Arguments of the Socialist Revolutionaries', June, 1917)।

लेनिन की समझदारी बिल्कुल स्पष्ट थी: यदि किसान आबादी रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार के लिए ही तैयार है और ज़मीन पर कब्ज़े के आन्दोलन के ज़रिये बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के इस अपूर्ण कार्यभार को स्वत:स्फूर्त रूप से पूरा कर रही है, तो सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रान्ति के अपने आन्दोलन में इस धारा को सहयोजित कर लेना चाहिए और भूमि सुधार का सबसे रैडिकल बुर्जुआ मॉडल लागू करना चाहिए जो कि उस समय वाम समाजवादी-क्रान्तिकारियों द्वारा पेश किया जा रहा था और मेहनतकश किसान मैण्डेट्स द्वारा रखा जा रहा था। इस कार्यक्रम को लेनिन ने हूबहू उठा लिया क्योंकि यह भूमि के राष्ट्रीकरण और उजरती श्रम पर रोक की वकालत करता था और साथ ही जो भी खेती करना चाहता था, उसे भोगाधिकार के आधार पर श्रम सिद्धान्त अथवा उपभोग सिद्धान्त के आधार पर भूमि आबण्टित करने की वकालत करता था। **लेनिन ने ये कदम क्यों उठाए? क्योंकि वे जानते थे कि शहरों में आम बग़ावत और समाजवादी क्रान्ति की विजय के बाद किसानों को बोल्शेविकों के पक्ष में लाने का त्रॉत्स्की का तख्तापलटवादी सिद्धान्त बकवास था, और सच्चाई यह थी कि**

किसानों के आम क्रान्तिकारी जनवादी आन्दोलन को सहयोजित किये बिना, जो कि अप्रैल 1917 के बाद से ही जारी था, सर्वहारा वर्ग अपनी सत्ता को शहरों में भी कायम नहीं कर सकता था और न ही उसे टिका सकता था। जैसा कि आप देख सकते हैं, *माटसाब* लेनिन की बजाय त्रॉत्स्की की कार्यदिशा का एक सस्ता सड़कछाप संस्करण पेश कर रहे हैं और उसे आज के भारत पर लागू करने की बेतुकी बात कर रहे हैं। समझ में नहीं आ रहा है कि *माटसाब* को शहर में सत्ता पर कब्ज़ा करने से किसने रोका है!?

आइये, देख लेते हैं कि *माटसाब* लेनिन और स्तालिन का साथ छोड़ कर किस प्रकार त्रॉत्स्कीपंथ का जनेऊ धारण कर बैठे हैं।

त्रॉत्स्की का मानना था समाजवादी क्रान्ति के दौरान आम मेहनतकश किसान आबादी को पहले जीतने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह राजनीतिक रूप से एक 'अज्ञात चर राशि' है, जो उतनी ही अचेतनता से बुर्जुआ विजय पर बुर्जुआ वर्ग के पक्ष में चली जाती है, जितनी अचेतनता से वह सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता जीतने पर सर्वहारा वर्ग के पक्ष में चली जाएगी। *माटसाब* भी यही कह रहे हैं। इसलिए, त्रॉत्स्की के अनुसार, सर्वहारा वर्ग को सीधे शहरों में सत्ता पर कब्ज़ा करना चाहिए और उसके बाद वह आम मेहनतकश किसान आबादी को साथ ले सकता है। त्रॉत्स्की के अनुसार, यह क्रान्ति की पूर्वशर्त नहीं है, बल्कि क्रान्ति के बाद अंजाम दिया जाने वाला कार्य है। लेनिन का कहना था कि बिना व्यापक मेहनतकश किसान आबादी के समर्थन के सर्वहारा वर्ग सत्ता पर कब्ज़ा कर ही नहीं पाएगा, या उस पर काबिज़ नहीं रह पाएगा।

त्रॉत्स्की की कार्यदिशा देखें:

"Many sections of the working masses, particularly in the countryside will be drawn into the revolution and become politically organised **only after the advance-guard of the revolution, the urban proletariat, stands at the helm of the state. Revolutionary agitation and organisation will then be conducted with the help of state resources.**" (L. Trotsky, **Results and Prospects**, pp. 202-3, *emphasis ours*)

और देखें:

"In such a situation, created by the transference of power to the proletariat, **nothing remains for the peasantry to do but to rally to the regime of the workers' democracy. It will not matter much even if the peasantry does this with a degree of consciousness no larger than that with which it usually rallies to the bourgeois regime."** (ibid, p. 205, *emphasis ours*)

याद रखें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि 1905 में रूस में जनवादी क्रान्ति की मंजिल थी, क्योंकि त्रॉत्स्की ऐसा नहीं मानता था। उसका मानना था कि सर्वहारा वर्ग सीधे सत्ता पर कब्ज़ा करेगा और मज़दूर सरकार बनाएगा, जिसके पास एक ही रास्ता होगा: सीधे समाजवाद की ओर बढ़ना। लेनिन का मानना था कि सर्वहारा वर्ग व्यापक किसान आबादी *को साथ लेकर* पहले मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही कायम करेगा, और फिर दूसरे चरण में ग़रीब किसानों व अर्द्धसर्वहारा को साथ लेकर और धनी किसानों व कुलकों को अलग कर, कदम-दर-कदम समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगा। लेकिन मूल बात यह है कि त्रॉत्स्की के लिए यह अन्तर अप्रासंगिक था, इसीलिए फरवरी 1917 में मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही के एक विशिष्ट रूप में अस्तित्व में आने के पूरे घटनाक्रम को नज़रन्दाज़ करके, उसने लेनिन की मृत्यु के बाद यह दावा किया था कि 'अप्रैल थीसिस' के साथ लेनिन भी 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त पर आ गये थे क्योंकि उन्होंने सीधे मज़दूर सत्ता और समाजवादी क्रान्ति की थीसिस पेश की थी। **यहां मौजूं बात यह है कि 1905 में त्रॉत्स्की ने जो लिखा था, वह उसका समाजवादी क्रान्ति का आम सिद्धान्त था, जिसके अनुसार, किसान आबादी के किसी भी वर्ग के साथ क्रान्ति के पहले मोर्चा बनाने व गांव में वर्ग संघर्ष छेड़ने की आवश्यकता नहीं थी, शहरी सर्वहारा को शहरों में सत्ता पर कब्ज़ा कर लेना था, जिसके बाद गांवों में वर्ग संघर्ष छेड़ा जा सकता था और मेहनतकश किसान आबादी साथ ली जा सकती थी। क्या *माटसाब* ठीक यही बात नहीं कर रहे हैं?**

लेनिन का मानना था कि न तो जनवादी क्रान्ति की मंजिल में पहले ही *समूची किसान आबादी* को साथ लिए बिना सर्वहारा वर्ग जनता की जनवादी क्रान्ति को सबसे पूर्णता के साथ अंजाम दे सकता है और न ही समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में *ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा और ग़रीब किसानों* को साथ लिए सर्वहारा वर्ग क्रान्ति को अंजाम दे सकता है। लेनिन लिखते हैं:

党The proletariat must carry through, to the very end, the democratic revolution by attaching to itself the mass of the peasantry in order to crush by force the resistance of autocracy and to paralyze the instability of the bourgeoisie. The proletariat must accomplish the socialist revolution by attaching to itself the mass of the semi-proletarian elements of the population in order to crush by force the resistance of the bourgeoisie and to paralyze the instability of the petty bourgeoisie. • (V. I. Lenin)

दूसरे शब्दों में, त्रॉत्स्की और त्रॉत्स्कीपंथ का एक दरिद्र और बचकाना संस्करण पेश कर रहे पटना के दोन किहोते के विपरीत किसानों के प्रति राजनीतिक कार्रवाई को लेनिन एक *ए प्रायोरी (a priori)* आवश्यकता मानते थे, क्योंकि जनवादी क्रान्ति की मंजिल में समूची किसान आबादी और समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में ग़रीब, निम्न मंझोले किसान व अर्द्धसर्वहारा आबादी लेनिन के लिए एक *सक्रिय प्रगतिशील अभिकर्ता* थी, न कि त्रॉत्स्की के समान कोई अज्ञात चर राशि जो कि अचेतनता के साथ उस शक्ति के साथ चली जाती है जो सत्ता पर कब्ज़ा करता है।

स्तालिन त्रॉत्स्की की इसी सोच पर हमला करते हुए लिखते हैं:

“Lentsner, the so-called editor of Trotsky's works, assures us that Trotsky's letters from America (March) "wholly anticipated" Lenin's Letters From Afar (March), which served as the basis of Lenin's April Theses. That is what he says: "wholly anticipated." Trotsky does not object to this analogy; apparently, he accepts it with thanks. But, firstly, Trotsky's letters "do not in the least resemble" Lenin's letters either in spirit or in conclusions, for they wholly and entirely reflect **Trotsky's anti-Bolshevik slogan of "no tsar, but a workers' government," a slogan which implies a revolution without the peasantry.** It is enough to glance through these two series of letters to be convinced of this. Secondly, if what Lentsner says is true, how are we to explain the fact that Lenin on the very next day after his arrival from abroad considered it necessary to dissociate himself from Trotsky? **Who does not know of Lenin's repeated statements that Trotsky's slogan: "no tsar, but a workers' government" was an attempt "to skip the still unexhausted peasant movement," that this slogan meant "playing at the seizure of power by a workers' government"?”** (Stalin, **Trotskyism or Leninism,** *emphasis ours*)

फिर से याद दिला दें, कि त्रॉत्स्की के लिए यह बात अप्रासंगिक थी कि 1905 में अभी जनवादी क्रान्ति की मंजिल थी, क्योंकि त्रॉत्स्की 'एक चोट में समाजवादी क्रान्ति' या 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को मानता था और उपरोक्त सोच सर्वहारा क्रान्ति की उसकी आम रणनीति और कार्यनीति को रेखांकित करती है। स्तालिन आगे फिर से त्रॉत्स्की के सिद्धान्त के वामपंथी बचकानेपन को, जिसमें *माटसाब* अब नहा चुके हैं, चिन्हित करते हुए लिखते हैं:

“Trotskyism is the theory of "permanent" (uninterrupted) revolution. But what is permanent revolution in its Trotskyist interpretation? It is revolution that fails to take the poor peasantry into account as a revolutionary

force. **Trotsky's "permanent" revolution is, as Lenin said, "skipping" the peasant movement, "playing at the seizure of power." Why is it dangerous? Because such a revolution, if an attempt had been made to bring it about, would inevitably have ended in failure, for it would have divorced from the Russian proletariat its ally, the poor peasantry."** (ibid, *emphasis ours*)

समाजवादी क्रान्ति के 'पहले चरण' के लिए भी मेहनतकश किसान आबादी को साथ लेना एक पूर्वशर्त थी, न कि बाद में अंजाम दिया जाने वाला कोई कार्यभार, इसे स्पष्ट करते हुए स्तालिन लिखते हैं:

"The same misadventure "happened" to the theory of permanent revolution, for not a single Bolshevik contemplated the immediate seizure of power on the morrow of the February Revolution, and **Trotsky could not help knowing that the Bolsheviks would not allow him, in the words of Lenin, "to play at the seizure of power." Trotsky had no alternative but recognise the Bolsheviks' policy of fighting for influence in the Soviets, of fighting to win over the peasantry.**" (ibid, *emphasis ours*)

मॉरिस डॉब त्रॉत्स्की की इस कार्यदिशा, जिसे अब पटना के दोन किहोते अपना चुके हैं, पर लेनिन के दृष्टिकोण को उद्धृत करते हुए लिखते हैं:

"In 1905 he (Lenin) wrote (against Parvus and Trotsky) : "At the present time the Russian proletariat represents a minority of the population. It can become a great overwhelming majority only if it combines with the mass of semi-proletarians and small farm owners, i.e. with the mass of the petty bourgeoisie, urban and rural poor." (in Vperiod, March 30, 1905, reprinted in Selections from Lenin, vol. II, 69)" (M. Dobb, **Soviet Economic Development since 1917,** p. 65, fn)

यहां तक कि त्रॉत्स्की से हमदर्दी रखने वाले अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी ब्रिटिश इतिहासकार ई. एच. कार भी लेनिन और त्रॉत्स्की की कार्यदिशा का अन्तर समझते थे:

"But, whereas Trotsky believed that this transition would set in automatically and inevitably through the " logic " of the revolution itself, Lenin clung more firmly to the *terra firma* of the bourgeois revolution, and held that the transition to socialism would depend on the realization of the two extraneous conditions which he had laid down in 1905: **the support of the peasantry** and the support of a European socialist revolution. **The main difference of doctrine between Lenin and Trotsky at this time was that Lenin made the beginning of the transition to socialism dependent on conditions which Trotsky regarded as necessary only for its final victory.**" (E. H. Carr, **The Bolshevik Revolution 1917-23, Vol-I**)

जैसा कि आप देख सकते हैं, लेनिन जनवादी क्रान्ति की मंजिल में भी किसानों के आम जनवादी आन्दोलन को साथ लेना जनता की जनवादी क्रान्ति के लिए अनिवार्य और पूर्वशर्त मानते थे और समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में भी ग़रीब किसानों, निम्न मंझाले किसानों, खेतिहर अर्द्धसर्वहारा और सर्वहारा को साथ लेना समाजवादी क्रान्ति को विजय तक पहुंचाने के लिए एक पूर्वशर्त मानते थे, जबकि त्रॉत्स्की का मानना था कि सर्वहारा वर्ग को शहरों में सत्ता पर कब्ज़ा कर लेना चाहिए और किसानों को साथ लेने का कार्यभार उसके बाद पूरा किया जा सकता है, क्योंकि एक अज्ञात चर राशि होने के कारण किसान उसी अचेतनता से सर्वहारा सत्ता के पक्ष में आ जाएंगे, जिस अचेतनता के साथ वे बुर्जुआ वर्ग के पक्ष में जाते हैं। और त्रॉत्स्की का अनुसरण करते हुए पटना के दोन किहोते का भी ऐसा ही मानना है। **दूसरी बात, जनवादी क्रान्ति की मंजिल में समूची किसान आबादी का आन्दोलन भी सामन्ती भूस्वामियों के विरुद्ध एक वर्ग संघर्ष ही है, हालांकि यह गांवों में**

अभी सर्वहारा वर्ग संघर्ष की शुरुआत नहीं है। केवल सर्वहारा वर्ग संघर्ष के परिप्रेक्ष्य से ही जनवादी आन्दोलन को अवर्गीय संघर्ष कहा जा सकता है, न कि निरपेक्ष अर्थों में। *माटसाब* को यह बात भी समझ में नहीं आती है।

-

जैसा कि आप देख सकते हैं, *माटसाब* कुलकों और धनी किसानों की पालकी के कहार बनने के चक्कर में मूर्खतापूर्ण कुतर्कों का जो जंजाल पैदा करते हैं, वह खुद उनके ही गले की फांस बन जाता है। **यह एक बौद्धिक बौना व्यक्ति है, जो कि मूर्खतापूर्ण ''सिद्धान्त-प्रतिपादन'' और अंहकारपूर्वक अपने उन ''सिद्धान्त प्रतिपादनों'' की रक्षा के लिए नये मूर्खतापूर्ण ''सिद्धान्त-प्रतिपादन'' करने के अन्तहीन कुचक्र में फंस गया है। इस प्रक्रिया में कभी यह बुखारिनपंथी दक्षिणपंथ की गोद में जा बैठता है, तो कभी दोलन करता हुआ, त्रॉत्स्कीपंथी 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के पायबोस और सिजदे करने लग जाता है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, कभी काऊत्स्कीपंथी अति-साम्राज्यवाद के सिद्धान्त तो कभी रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के अल्पउपभोगवाद में पतित हो जाता है।** यह सब किसलिए? सिर्फ अपनी मूर्खतापूर्ण ग़लतियों को छिपाने के लिए। एक मार्क्सवादी को ईमानदार होना चाहिए। उसे जब स्पष्ट तौर पर उसकी ग़लतियां दिखला दी जाएं, तो उसे संकीर्ण सांगठनिक हितों को छोड़कर मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुरूप अपनी ग़लतियों को स्वीकार करना चाहिए, उन्हें ठीक करना चाहिए और आगे बढ़ना चाहिए। लेकिन पीआरसी के नेता महोदय अब इस बुनियादी ईमानदारी को खो चुके हैं और एक ग़लती को ढांपने के लिए बात बदलने, चौर्य लेखन करने, मूर्खतापूर्ण "सिद्धान्त प्रतिपादन" करने की दर्जनों ग़लतियां किये जा रहे हैं और अपने ही पैदा किये मलकुण्ड में डुबकी लिए जा रहे हैं।

संक्षेप में, गांवों में वर्ग संघर्ष अक्तूबर क्रान्ति के पहले भी जारी था, हालांकि अभी यह वर्ग संघर्ष अभी मूलत: और मुख्यत: आम जनवादी आन्दोलन की सीमाओं के परे नहीं गया था और सर्वहारा अर्थों में इस ''गैर वर्गीय संघर्ष'' कहा जा सकता है, क्योंकि अभी यह वर्ग समाज के इतिहास के दो अन्तिम ध्रुवीय वर्गों, यानी बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का निर्णायक संघर्ष नहीं है। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह वर्ग संघर्ष ही नहीं था। समूचे वर्ग समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का ही इतिहास होता है। लेनिन की महान प्रतिभा इस बात को समझने में थी कि रूस की समाजवादी क्रान्ति को एक हक़ीकत में तब्दील करने के लिए व्यापक मेहनतकश किसान आबादी के इस आम क्रान्तिकारी जनवादी आन्दोलन को सहयोजित करना अनिवार्य है, उसे अधिकतम सम्भव रैडिकल स्वरूप देना आवश्यक है, क्योंकि इस ज़मीन पर खड़े होकर ही गांवों में समाजवादी क्रान्ति के लिए वर्ग संघर्ष की ओर सर्वाधिक बेहतर तरीके से बढ़ा जा सकता है। मई 1918 में ग़रीब किसान समितियों के गठन के द्वारा इस प्रक्रिया की शुरुआत भी कर दी गयी थी, हालांकि गृहयुद्ध और ''युद्ध कम्युनिज़्म'' के दौर में हुई ग़लतियों के कारण यह प्रक्रिया नियोजित रूप में आगे नहीं बढ़ सकी और अन्त में 1921 में दसवीं कांग्रेस में 'नेप' के 'रणनीतिक रूप से कदम पीछे हटाने' की नीति लागू करने का निर्णय लिया गया, जिसकी ऊपर हम विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।

क्या रूसी समाजवादी क्रान्ति में गांवों में वर्ग संघर्ष नहीं हो रहा था, जैसा कि पटना के दोन किहोते को लगता है? आइये देखते हैं कि लेनिन क्या कहते हैं:

“Russia is being flayed with the scourge of famine, which has attained unparalleled proportions precisely because it is the plan of the imperialist robbers to cut off her granaries. Their calculations are well founded and are aimed at getting social and class support in the grain-producing outlying regions; they seek areas where the kulaks predominate—the rich peasants, who have battened on the war and who live by the labour of others, the labour of the poor. You know that these people have piled up hundreds of thousands of rubles and that they have huge stocks of grain. You know that it is these people who have battened on national misfortunes and who had greater opportunity to rob and increase their profits the more the population of the capital suffered—**it is these kulaks who have constituted the chief and most formidable buttress of the counter-revolutionary movement in**

Russia. Here the class struggle has reached its deepest source. There is not a village left where the class struggle is not raging between a miserable handful of kulaks on the one hand and the vast labouring majority—the poor and those middle peasants who have no grain surpluses, who have consumed them long ago, and who did not go in for profiteering—on the other. This class struggle has penetrated every village." (Lenin, SESSION OF ALL-RUSSIA C.E.C., JULY 29, 1918, CW 28. p. 26-27)

सोवियत इतिहास को अपनी "तिलिस्मी" शक्तियों से विकृत कर हमारे पटना के साधू गोरेन्फ्लो धनी किसानों की पूंछ पकड़ने की छटपटाहट के चलते इसका सादृश्य निरूपण मौजूदा किसान आन्दोलन से करते हैं। पहले वह एंगेल्स के 'बड़े किसान' और लेनिन की 'किसान बुर्जुआजी' को एक दिखलाते हैं और फिर उसे 'पूंजीवादी फार्मर' से अलग बताते हैं, जबकि लेनिन 'किसान बुर्जुआजी' को पूंजीवादी फार्मर ही मानते हैं और ग्रामीण बुर्जुआजी का हिस्सा ही मानते हैं और एंगेल्स 'बड़ा किसान' शब्द का प्रयोग पूंजीवादी किसान के लिए नहीं बल्कि एक सामान्य माल उत्पादक बड़े किसान के लिए करते हैं, जो अभी पूंजीवादी माल उत्पादक बना नहीं है, बल्कि संक्रमणशील अवस्था में है और शहरों के दस्तकारों के ज़्यादा करीब पड़ता है। और अन्त में मास्टरजी अपने इस पूरे भ्रम को भारत के कुलकों व धनी किसानों पर आरोपित कर देते हैं और दावा करते हैं कि भारत के कुलक व धनी फार्मर वास्तव में पूंजीपति वर्ग का अंग नहीं हैं, वे तो महज़ वह 'बड़ा किसान' हैं, जिसकी बात एंगेल्स ने की थी, और वह तो 'किसान बुर्जुआजी' है जिसकी बात लेनिन ने की थी! जबकि लेनिन के लिए 'किसान बुर्जुआजी' ग्रामीण बुर्जुआजी का हिस्सा ही है और पूंजीवादी फार्मर ही है।

सच्चाई यह है कि भारत का कुलक व धनी किसान वर्ग पूंजीवादी फार्मर व पूंजीवादी भूस्वामी वर्ग ही है और यह पूर्णत: पूंजीवादी उत्पादन में लगा है, पूंजी संचय कर रहा है, मशीनीकरण कर रहा है, बड़े पैमाने पर उजरती श्रम का शोषण कर रहा है और मार्क्स के अर्थों में 'उपयुक्त रूप से पूंजीवादी' बन चुका है। यह किसी भी रूप में सामान्य माल उत्पादन के दौर का 'बड़ा किसान' नहीं है, जिसकी चर्चा एंगेल्स ने जर्मनी के सन्दर्भ में की है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। दरअसल, पीआरसी का यह बौद्धिक बौना किसान प्रश्न पर अपने दक्षिणपंथ, बुखारिनपंथ, वर्ग सहयोगवाद और वर्ग आत्मसमर्पणवाद को छिपाने के लिए बहुत से बौद्धिक द्रविड़ प्राणायाम के प्रयास करता है, लेनिन व एंगेल्स को दुर्व्याख्यायित करता है, सन्दर्भों और शब्दों के अर्थों को समझे बगैर अपनी सुविधा से काल्पनिक अर्थ निर्माण करने का प्रयास करता है, लेकिन यह प्रयास कामयाब नहीं हो पाता है।

क्या लेनिन बड़े इजारेदार पूंजीवाद व साम्राज्यवाद के विरुद्ध ग़ैर-इजारेदार पूंजीपति वर्ग, छोटे पूंजीपति वर्ग और टुटपुंजिया वर्गों के छोटी पूंजी को बचाने के लिए होने वाले रूमानी विरोध का समर्थन करते थे?

अन्त में मास्टरजी 'किसान बुर्जुआज़ी' की अपनी नव-सन्धानित श्रेणी के ज़रिये धनी किसान-कुलक वर्ग के कुछ और पाप धो लेना चाहते हैं। वह हमारे द्वारा पेश किये गए लेनिन के एक उद्धरण पर अपनी एक और मूर्खतापूर्ण दलील पेश करते हैं जिससे कि ऐसा प्रतीत होता है कि मास्टरजी जटिल वाक्य विन्यास समझ नहीं पाते हैं या फिर ऐसा भी हो सकता है कि मास्टरजी को लगता है कि इनके सांचो पांज़ाओं की तरह अन्य लोग भी जटिल वाक्यों को नहीं समझ पाएंगे और इसलिए यह इन्हें तोड़ने- मरोड़ने की छूट ले सकते हैं। पटना के दोन किहोते कहते हैं कि लेनिन के उक्त उद्धरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लेनिन साम्राज्यवादियों के हिमायती हैं! कोई अधिभूतवादी और जड़सूत्रवादी ही, जिसके सिर के ऊपर से द्वन्द्वात्मक तर्क एकदम बाउंसर की तरह गुज़रते हों, यह बात कह सकता है। जो आदमी साधारण से उद्धरण का अर्थ नहीं निकाल सकता है वह भावी शासक की तरह धनी किसान आन्दोलन से संवाद करना चाहता है! खुद देख लीजिये हमारे कुर्सीतोड़ मास्टरजी क्या लिखते हैं:

"Imperialism is as much our "mortal" enemy as is capitalism. That is so. No Marxist will forget, however, that capitalism is progressive compared with feudalism, and that imperialism is progressive compared with pre-monopoly capitalism. Hence, it is not every struggle against imperialism that we should support. We will not

support a struggle of the reactionary classes against imperialism; we will not support an uprising of the reactionary classes against imperialism and capitalism." (This is the quote that they had used against us in their second instalment of critique)

“Comrades! this is a quote from his famous writing "A caricature of Marxism and imperialist economism" that deals with those who were against Lenin's political line of supporting the "right of nations to self-determination' as against big nations chauvinism and imperialism. But one may feel that Lenin is defending imperialism and was against the "right of nations to self-determination" as against imperialism. In their conceitful vein to criticise us they have thus tried to turn Lenin on his head (sic). To those, who doesn't know Lenin must be feeling that he is batting in favour of Imperialism..."(Apologists are just short of saying red salute to Corporates, ‘The Truth’, Issue no. 12)

यहां भी हम देख सकते हैं कि मास्टरजी कोई रचना ठीक से नहीं पढ़ते हैं। उपरोक्त रचना में लेनिन ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध हर संघर्ष का साथ न देने की जो बात कही है, वह वास्तव में **एक आम कार्यदिशा है**, न कि सिर्फ राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में कही गयी बात। उपरोक्त उद्धरण में लेनिन पहले कियेव्स्की की गड्डमड्ड बातों का खण्डन करते हैं, जो पहले यह कहता है कि साम्राज्यवाद के दौर में आत्मनिर्णय के अधिकार की बात करना ही बेमानी है, और साथ ही बाद में यह भी कहता है कि सामाजिक-जनवादियों को साम्राज्यवाद द्वारा किसी भी राष्ट्रीय विद्रोह को कुचलने का विरोध करना चाहिए, और इस प्रकार वह राष्ट्रीय आत्मनिर्णय व राष्ट्रीय मुक्ति को साम्राज्यवादी युग का एक यथार्थ भी मानता है। और जहां कियेव्स्की इस यथार्थ को स्वीकार करता है, वहां वह अतिसामान्यीकरण करते हुए यह कह बैठता है कि हमें राष्ट्रीय विद्रोहों को कुचले जाने का विरोध करना चाहिए क्योंकि *यह साम्राज्यवाद का विरोध* होगा। यहीं लेनिन उसे पकड़ते हैं और दिखलाते हैं कि यहां भी उसने सटीक चिन्तन की अपनी क्षमता का अभाव दिखलाया है और साम्राज्यवाद के विरोध का एक अतिसामान्यीकरण कर दिया है, जबकि मार्क्सवादी अवस्थिति यह है ही नहीं कि साम्राज्यवाद के हर विरोध का समर्थन किया जाय।

यहां लेनिन की दलील की मूल अन्तर्वस्तु यही है कि बड़ी इजारेदार पूंजी और साम्राज्यवाद का विरोध अक्सर गैर-इजारेदार पूंजी भी करती है, प्रतिक्रियावादी वर्ग भी करते हैं और उन सूरतों में कम्युनिस्ट उसका समर्थन नहीं करते हैं, बल्कि स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति अपनाते हैं। यह कोई सन्दर्भ-विशिष्ट तर्क नहीं है, बल्कि एक आम तर्क है। यही तर्क मार्क्स ने भी दिया था, जब उन्होंने पश्चिमी यूरोपीय उन्नत पूंजीवादी राष्ट्रों के विरुद्ध छोटे स्लाव राष्ट्रों के प्रतिक्रियावादी वर्गों के संघर्ष के असफल होने की कामना की थी। यह मार्क्स से लेकर माओ तक सभी महान शिक्षकों का आम नज़रिया रहा है। लेकिन *माटसाब* की समस्या यह है कि वह सामान्य को विशिष्ट बना देते हैं और विशिष्ट को सामान्य ताकि अपने बौद्धिक बौनेपन का उतना ही बौना वैधीकरण तैयार कर सकें। आइये, लेनिन की इस आम कार्यदिशा के कुछ और उदाहरण देख लेते हैं, ताकि सनद रहे।

छोटी पूंजी और छोटा पूंजीपति वर्ग बड़े पूंजीपति वर्ग का जो विरोध करता है, उसकी आम प्रकृति, और सर्वहारा वर्ग द्वारा पूंजीपति वर्ग के विरोध के उससे अन्तर के विषय में समझाते हुए लेनिन लिखते हैं:

“That capital is oppressive, that it is a predator, that it is the original source of anarchy—in this the petty bourgeois is ready to agree with the proletariat. But there the similarity ends. The proletarian regards capitalist economy as a robber economy, and therefore wages a class struggle against it, shapes his whole policy on unconditional distrust of the capitalist class, and in dealing with the question of the state his first concern is to distinguish which class the “state” serves, whose class interests it stands for. **The petty bourgeois, at times, gets “furious” with capital, but as soon as the fit of anger is over he goes back to his old faith in the capitalists, to the hopes placed in the “state”.., of the capitalists!”** (Lenin, **The Petty-Bourgeois Stand on the Question**

of Economic Disorganization, June, 1917, *emphasis ours*)

मार्क्स के मुक्त व्यापार के प्रश्न पर दिये गये भाषण और उस पर आर्थिक रूमानीवादियों की आपत्तियों पर लिखते हुए लेनिन कहते हैं:

党Thus, the speaker was able to find a criterion for the solution of the problem which at first sight seemed to lead to the hopeless dilemma that brought Sismondi to a halt: both Free Trade and its restraint equally lead to the ruin of the workers. *The criterion is the development of the productive forces*. **It was immediately evident that the problem was treated from the historical angle: instead of comparing capitalism with some abstract society as it should be (i.e., fundamentally with a utopia), the author compared it with the** *preceding stages* **of social economy, compared the different stages of capitalism as they successively replaced one another,** *and established the fact that the productive forces of society develop thanks to the development of capitalism***.** By applying scientific criticism to the arguments of the Free Traders he was able to avoid the mistake usually made by the romanticists who, denying that the arguments have any importance, 鍍hrow out the baby with the bath water • he was able to pick out their sound kernel, i.e., the undoubted fact of enormous technical progress. **Our Narodniks, with their characteristic wit, would, of course, have concluded that this author, who had so openly taken** *the side of big capital against the small producer***, was an 殿pologist of money power, • the more so that he was addressing continental Europe and applying the conclusions he drew from English life to his own country, where at that time large scale machine industry was only taking its first timid steps. And yet, precisely this example (like a host of similar examples from West-European history) could help them study the thing they are not at all able to understand (perhaps they do not wish to do so?), namely, that to admit that big capital is progressive as compared with small production, is very, very far from being 殿pologetics.媒 (Lenin, A Characterization of Economic Romanticism, *emphasis ours*)**

पाठक स्वयं देखें: क्या टुटपुंजिया वर्ग और छोटे पूंजीपति वर्ग का पाजामा रफू करने में सन्नद्ध *माटसाब* और उनके *माटसाब,* यानी सोशल मीडिया के "वामपंथी" कुर्सीतोड़ पत्रकार महोदय क्या ठीक ये ही आरोप हम पर नहीं लगा रहे हैं, जो एक समय नरोदवादियों ने लेनिन पर और आर्थिक रूमानीवादियों ने मार्क्स पर लगाया था? यह संयोगवश नहीं हो रहा है। इसकी वजह है। वजह यह है कि सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान आबादी का पक्ष छोड़ *माटसाब* कुलकों व धनी किसानों का पाजामा रफू करने में व्यस्त हो गये हैं।

सच्चाई यह है कि लेनिन के जिस उद्धरण को *माटसाब* केवल राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों पर लागू होने वाला कथन बता रहे हैं, वह लेनिन की बड़ी पूंजी का छोटी पूंजी की ज़मीन से विरोध किये जाने की सोच पर आम कार्यदिशा है। लेकिन *माटसाब* अपनी सुविधानुसार सामान्य को विशिष्ट और विशिष्ट को सामान्य में तब्दील कर देने में साधु गोरेन्फ्लो जैसी ही दक्षता का परिचय देते हैं। **जैसा कि आप देख सकते हैं, *माटसाब* को सामान्य बातें पढ़कर समझने में भी समस्या होती है। दोष सम्भवत: कोचिंग सेण्टर के अतीत का है, जिसने उनके दिमाग में कूट-कूट कर बुर्जुआ भूसा भर दिया है।**

दूसरी बात जो यहां समझने की आवश्यकता है वह यह है कि साम्राज्यवाद एकाधिकार-पूर्व पूंजीवाद की तुलना में, इजारेदार पूंजी ग़ैर-इजारेदार पूंजी की तुलना में, बड़ी पूंजी छोटी पूंजी की तुलना में किस रूप में प्रगतिशील है। क्योंकि *माटसाब* और सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय को लगता है कि इसका अर्थ है कि बड़ा पूंजीवाद या साम्राज्यवाद जनता का भला करता है, उसका कल्याण करता है, इत्यादि। यह

मूर्खता की पराकाष्ठा है। मार्क्स और लेनिन जब भी साम्राज्यवाद और बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रगतिशील होने की बात करते हैं, तो उसका अर्थ है *ऐतिहासिक रूप से* प्रगतिशील होना। ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील होने का क्या अर्थ है? इसका हमने पहले भी जिक्र किया था लेकिन इन बौद्धिक बौनों के समझ नहीं आया, इसलिए थोड़ा विस्तार में समझाने की आवश्यकता है। जैसा कि हम लेनिन के उपरोक्त उद्धरण में देख सकते हैं, इसका अर्थ है टुटपुंजिया उत्पादन, छोटी पूंजी, के मुकाबले प्रगतिशील होना, जो कि उत्पादन के समाजीकरण को बाधित करते हैं। जब छोटे माल उत्पादक, छोटा पूंजीपति वर्ग और टुटपुंजिया वर्ग उजड़ते हैं, तो निश्चित ही वह प्रक्रिया उनके जनसमुदायों के लिए तकलीफ़देह होती है; लेकिन फिर भी ऐतिहासिक तौर पर यह प्रक्रिया प्रगतिशील होती है। मार्क्स ने आदिम संचय की प्रक्रिया को रक्त और आंसुओं से सना हुआ बताया था, लेकिन फिर भी उसे ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील बताया था। मार्क्स ने दास प्रथा को सबसे बर्बर उत्पीड़न की व्यवस्था बताया था, लेकिन उसे आदिम वर्गविहीन समाज की तुलना में ऐतिहासिक रूप से एक प्रगतिशील कदम बताया था। ठीक इन्हीं अर्थों में छोटी पूंजी व टुटपुंजिया वर्गों के मुकाबले बड़ी पूंजी और गैर-इजारेदार पूंजी के मुकाबले इजारेदार पूंजी ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील है। क्यों? क्योंकि वह एक उन्नततर सामाजिक व्यवस्था, यानी समाजवादी व्यवस्था, की ज़मीन तैयार करती है। क्यों? क्योंकि वह उत्पादन और श्रम का इतने बड़े पैमाने पर समाजीकरण करती है, कि निजी विनियोजन के साथ उसका अन्तरविरोध असमाधेय बनता जाता है (हालांकि तब भी साम्राज्यवादी व्यवस्था स्वयं ही नहीं गिर जाती है)। उत्पादन और श्रम के विशालतर से विशालतर पैमाने पर समाजीकरण समाजवादी क्रान्ति के बाद उद्योग से लेकर कृषि तक के क्षेत्र में समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को अपेक्षाकृत अधिक सहज और सरल बना देते हैं।

अभी हाल ही में *माटसाब* और *माटसाब के माटसाब*, यानी मूर्खेश असीम, ने रोज़ा लक्जेमबर्ग का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त अपना लिया है। उनका कहना है कि आज की ठोस परिस्थितियों के अनुसार साम्राज्यवाद ऐतिहासिक तौर पर भी प्रगतिशील नहीं है, क्योंकि अब वह दुनिया के हर कोने में फैल चुका है और अब उसमें विस्तार की कोई सम्भावना नहीं है। **ये मूर्ख भौगोलिक विस्तार की सीमा को पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण पर सीमा मानते हैं।** उत्पादन और श्रम का अधिक से अधिक समाजीकरण पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण के कारण होता है। यदि साम्राज्यवाद विश्व के हर कोने-अंतरे में पहुंच जाए तो क्या पूंजी का संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण रुक जाता है? नहीं! क्या पूंजी संचय रुक जाता है? नहीं! यहां पटना के दोन किहोते और मुम्बई के कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार रोज़ा लक्जेमबर्ग की साम्राज्यवाद की समझदारी और डेविड हार्वी व माइकल हाइनरिश द्वारा पेश की जा रही गैर-मार्क्सवादी **विसंचय (disaccumulation)** की थीसिस का एक दरिद्र मिश्रण पेश करते हैं।

पूंजी संचय अनिवार्यत: भौगोलिक विस्तार पर निर्भर नहीं करता है, हालांकि भौगोलिक विस्तार उसमें सहायता पहुंचा सकता है। यदि ऐसा होता तो धनी पूंजीवादी देशों में उत्तर-औपनिवेशिक दौर में पूंजीवादी संचय को और पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण को रुक जाना चाहिए था। पूंजी का संकेन्द्रण व केन्द्रीकरण एक *ऑर्गेनिक* प्रक्रिया है, न कि *एग्रीगेटिव* प्रक्रिया जो नये इलाकों के जुड़ने मात्र पर निर्भर करती हो। पूरी दुनिया में आज पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण की प्रक्रिया जारी है, जिसे आप कुल मूल्य निर्माण और साथ ही *मर्जर* व *एक्विजिशन* के आंकड़ों में देख सकते हैं। क्या दुनिया में कुल पूंजी का परिमाण एक दीर्घकालिक रुझान के रूप में बढ़ रहा है? हां, बढ़ रहा है। वास्तव में, संकट की एक अभिव्यक्ति यह भी है। पूंजीवाद स्थैतिक नहीं रह सकता। वह फैलेगा या समाप्त होगा। जब पूंजी का अधिक्य मुनाफे की गिरती दर के संकट के कारण सन्तृप्ति पर पहुंचता है, तो मन्दी पैदा होती है। यह मन्दी उत्पादक शक्तियों के विनाश की ओर ले जाती है, छोटे या बड़े युद्धों को जन्म देती है, पर्यावरणीय विनाश को जन्म देती है और *काउण्टर* को *रीसेट* करती है, यानी मुनाफे की दर को वापस स्वस्थ स्तर पर *रीस्टोर* करती है। कभी यह कार्य छोटे काल में होता है, तो कभी बड़े कालखण्ड में। मार्क्स बताते हैं कि पूंजीवाद के लिए संकट एक शुद्धि की प्रक्रिया भी है, जब अतार्किक आधिक्य समाप्त होता है, ताकि नये अतार्किक आधिक्य की तैयारी शुरू हो सके।

यह रोज़ा लक्जेमबर्ग का सिद्धान्त था कि जब पूंजी विश्व के सभी कोनों में व्याप्त हो जाएगी और साम्राज्यवाद और कहीं नहीं जा पाएगा, तो पूंजीवाद का अपरिहार्यत: पतन हो जाएगा (theory of inevitable collapse)। यह पूरा सिद्धान्त इस तर्क पर आधारित था कि पूंजीवाद को विस्तार के लिए एक बाह्य कारक चाहिए, तीसरा ख़रीदार, जो कि उसे उपनिवेशों में प्राप्त होता है। जैसे ही यह कारक नहीं रह जाएगा, पूंजीवाद ढह जाएगा। यह पूरा का पूरा तर्क ही अल्पउपभोगवाद (underconsumptionism) पर आधारित है, जो कि पूंजी की गतिकी को समझता ही नहीं है। मार्क्स और लेनिन का मानना था कि पूंजीवाद का विस्तार उसकी आन्तरिक गति पर निर्भर करता है, महज़ बाह्य कारक पर नहीं, हालांकि यह बाह्य कारक उसके लिए सहायक हो सकता है। इस पूरी बात को विस्तार से समझने के लिए यह पेपर पढ़ें:

https://redpolemique.wordpress.com/2018/04/15/marxist-theories-of-imperialism-from-marx-to-present-times-a-contemporary-critical-reassessment/

साम्राज्यवाद कोई भौगोलिक सीमा के पैदा हो जाने से स्थैतिक नहीं हो जाता है, न ही निरपेक्ष अर्थों में उत्पादक शक्तियों का विकास रुक जाता है और न ही ऐसा होने के साथ साम्राज्यवाद की तुलना में गैर-इजारेदार पूंजी, छोटा पूंजीपति वर्ग, धनी किसान व कुलक ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील हो जाते हैं। जो ऐसा समझता है उसे न सिर्फ मार्क्सवाद-लेनिनवाद की कोई समझ नहीं है, बल्कि उसे आम तौर पर इतिहास की भी कोई समझ नहीं है।

फिर साम्राज्यवाद की ऐतिहासिक प्रतिगामिता किन अर्थों में प्रासंगिक होती है? केवल और केवल समाजवादी व्यवस्था की तुलना में। समाजवादी व्यवस्था जिन अर्थों उत्पादक शक्तियों के विकास को निर्बन्ध कर सकती है, साम्राज्यवाद ऐतिहासिक तौर पर उसके बरक्स उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित करता है, उनके पैरों में बेड़ियों का काम करता है; समाजवादी व्यवस्था जिस तरीके से मानवता को प्रगति की नयी मंजिल में ले जा सकती है, उसके बरक्स साम्राज्यवाद एक प्रतिक्रियावादी शक्ति की भूमिका निभाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साम्राज्यवाद की कोई भौगोलिक सीमा होती है, जिसके पहुंचने के बाद वह पूर्ण रूप से स्थैतिक हो जाता है, उत्पादक शक्तियों का विकास रुक जाता है, और (इससे भी ज़्यादा मज़ाकिया!) इसलिए अब साम्राज्यवाद की तुलना में छोटा पूंजीपति वर्ग, कुलक, फार्मर आदि प्रगतिशील हो जाते हैं। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की ऐसी समझदारी केवल *माटसाब* और सोशल मीडिया के "वामपंथी" कुर्सीतोड़ पत्रकार जैसे बौनों की ही हो सकती है, किसी कम्युनिस्ट की नहीं। यह और कुछ नहीं बल्कि पश्चगामी रूमानी दृष्टिकोण है, जिसकी आलोचना मार्क्स से लेकर लेनिन तक ने बार-बार पेश की है।

क्या आज हम *समूची किसान आबादी* के आन्दोलन के साक्षी बन रहे हैं? क्या सामन्तवाद-विरोधी जनवादी कार्यभारों की पूर्ति के अतिरिक्त *समूची किसान आबादी* का कोई आन्दोलन हो सकता है?

प्रिय पाठक, ज़रा ठहरें। अभी इनकी कठमुल्लावादी अक्ल की नुमाइश ख़त्म नहीं हुई है! *माटसाब* का मानना है कि आज हम समूची किसान आबादी के किसी आन्दोलन के साक्षी बन रहे हैं। यह मूर्खतापूर्ण दावा वास्तव में मास्टरजी के अगले कुतर्क का पूर्वाधार है। वह आगे कहते हैं कि आज धनी किसान-कुलक वर्ग को प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ या सामन्ती शक्तियों के किसी भी तरह समतुल्य क़रार नहीं दिया जा सकता है। साथ ही, न ही उन्हें कॉरपोरेट यानी इजारेदार पूंजीपतियों के मुकाबले रखकर देखा जा सकता है। मास्टरजी कहते हैं कि हमारे अनुसार,

"...movement of peasants as a whole is a reactionary movement of either a feudal type or a capitalist type, although peasant bourgeoisie participating in this movement are not capitalists. We have already quoted Stalin to show that peasant bourgeoisie per se are not rural capitalists." (वही)

इस उद्धरण में जो पुरानी मूर्खताएं हैं, जिनका हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं, उन्हें दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए *माटसाब* की नयी मूर्खताओं पर बात केन्द्रित करेंगे।

पहली बात तो यह है कि समूची किसान आबादी के किसी आन्दोलन की बात केवल और केवल सामन्तवाद के विरुद्ध और जनवादी कार्यभारों की पूर्ति के सन्दर्भ में ही की जा सकती है, जैसा कि हम एंगेल्स व लेनिन के उपरोक्त उद्धृत उद्धरणों में देख चुके हैं, और उस मंजिल में वह प्रगतिशील होता है और हम भी उसे प्रगतिशील ही मानते हैं। **लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में ऐसा कोई आन्दोलन सम्भव नहीं है और यही वजह है कि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन भी समूची किसान आबादी का आन्दोलन बनने में बुरी तरह से नाकाम हुआ है।** अब इस बात को तमाम स्वतंत्र प्रेक्षक भी अच्छी तरह से पहचान रहे हैं। पंजाब के धनी किसानों-कुलकों को ग़रीब किसानों, ग़रीब काश्तकारों और खेतिहर मज़दूरों पर अपनी पंचायतों के ज़रिये जुर्माने थोपने पड़ रहे हैं, ताकि वे विरोध स्थल पर जाएं। 'कैरवां' की एक

रपट को अपनी आलोचना की पिछली किश्त में हमने उद्धृत भी किया था, जो स्पष्ट तौर पर दिखला रही थी कि मौजूदा आन्दोलन में ग़रीब किसानों, ग़रीब काश्तकारों और खेतिहर मज़दूरों की भागीदारी बेहद कम या नगण्य है और वह भी ज़्यादातर दबाव की वजह से है।

भौगोलिक तौर पर भी देखा जाय तो यह भारत के समूचे किसानों का आन्दोलन नहीं है, इसकी पहुंच मूलत: और मुख्यत: पंजाब और हरियाणा में ही है और एक हद तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश में। कुलक नेताओं के लाख प्रयासों के बावजूद इस आन्दोलन को कोई देशव्यापी चरित्र नहीं मिल पाया है, हालांकि, किसान संगठनों के कुछ दर्जन एक्टिविस्ट देश के कई हिस्सों में गाहे-बगाहे प्रदर्शन करते रहे हैं। लेकिन यह किसी व्यापक जनान्दोलन का स्वरूप कहीं नहीं ले पाया। **तो पहली बात तो यह दावा ही हवाई है कि कोई समूची किसान आबादी का आन्दोलन हो रहा है और दूसरी बात, आज पूंजीवादी समाज और व्यवस्था में ऐसा हो भी नहीं सकता है।**

अपने आपको मार्क्सवादी कहने वाला कोई व्यक्ति यदि यह दावा करता है, तो उस पर हंसा ही जा सकता है। अत: हमारे ऊपर यह आरोप कि हम समूची किसान आबादी के आन्दोलन को प्रतिक्रियावादी मानते हैं, एक मूर्खतापूर्ण आरोप है क्योंकि अव्वलन तो ऐसा कोई आन्दोलन केवल और केवल सामन्तवाद के विरुद्ध और जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए ही सम्भव है (जिस सूरत में हम उसका अवश्य समर्थन करते), हालांकि धनी किसानों-कुलकों का इजारेदार पूंजी से निश्चित ही बेशी मूल्य के विनियोजन में हिस्सेदारी को लेकर अन्तरविरोध हो सकता है। दूसरी बात, यदि बात जनवादी क्रान्ति की मंजिल की है, तो हमने ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है कि समूची किसान आबादी का आन्दोलन प्रतिक्रियावादी ही होगा; उस सूरत में जिस हद तक समूची किसान आबादी सामन्तवाद के विरुद्ध एक आम जनवादी आन्दोलन करेगी, वह निश्चित तौर पर ही ऐतिहासिक और राजनीतिक दोनों ही तौर पर प्रगतिशील होगा। लेकिन आज ऐसा कोई आन्दोलन हम अपने सामने देख नहीं रहे हैं और देख भी नहीं सकते हैं, क्योंकि हम सामन्ती व्यवस्था से बहुत आगे आ चुके हैं, जनवादी कार्यभार जिस रूप में पूर्ण हो सकते थे वे हो चुके हैं और हम परिपक्व पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में हैं।

हम ऊपर दिखला चुके हैं कि न तो लेनिन का और न ही स्तालिन का ऐसा मानना है कि किसान बुर्जुआजी पूंजीवादी नहीं है। किसान बुर्जुआजी पूंजीवादी फार्मरों का वर्ग ही है और वह ग्रामीण बुर्जुआजी का ही हिस्सा है, जिसमें उद्यमी पूंजीवादी किसान (किसान बुर्जुआजी) के साथ-साथ पूंजीवादी भूस्वामी, सूदखोर, और व्यापारी भी शामिल है। लेनिन ने यह भी दिखलाया है, जैसा कि हमने ऊपर लेनिन को विस्तार से उद्धृत किया है, कि ग्रामीण बुर्जुआजी के इन वर्गों के बीच कोई चीन की दीवार भी नहीं होती है, बल्कि उनमें आंशिक अतिच्छादन होता है क्योंकि पूंजी संचय की प्रगति के साथ किसान बुर्जुआजी (पूंजीवादी किसान) अपनी पूंजी का वैविध्यकरण करता है, ज़मीन का लगानखोर भी बन जाता है, सूद पर पैसे चला कर सूदखोर भी बन जाता है और व्यापारिक उद्यमों में पैसा लगाकर वाणिज्यिक मुनाफाखोर भी बन जाता है। **लेनिन का यह सटीक विश्लेषण आज पंजाब, हरियाणा और पूरे देश के ही धनी किसानों-कुलकों पर शब्दश: लागू होता है, जिनकी पूंछ में कंघी करने के लिए *माटसाब* गिरते-पड़ते, लुढ़कते-पुढ़कते घूम रहे हैं।**

इसके बाद *माटसाब* फिर कहते हैं कि हमारे अनुसार,

"the peasant bourgeoisie i.e. the lower rung sections of rich peasants and well-off upper sections of the middle peasants are competitors of Corporates. It is true that the peasant bourgeoisie thrive on the rural poor toil and property and aspire to grow into capitalists. It is also true that they along with small and middle peasants have been the bulwark of the bourgeoisie rule in India and till recently they were the supporters of the Hindutva brand of fascists. Even tomorrow they may turn the same. But to say that because of these things they are competitors of the Corporates is a big political fraud committed with a design or an evil purpose that can only be understood as a justification of their having turned over to corporates" (वही)

यहां भी अपने बौद्धिक बौनेपन पर से *माटसाब* ने सूत का आखिरी धागा भी उतार फेंका है। पहली बात तो यह है कि प्रतिस्पर्द्धा होने के लिए दोनों प्रतिस्पर्द्धियों का बराबर होना आवश्यक नहीं है। दूसरी बात, यहां *दो वर्गों के बीच* प्रतिस्पर्द्धा की बात की जा रही है। **क्या धनी**

किसानों-कुलकों के वर्ग और बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग (कारपोरेट्स) के बीच प्रतिस्पर्द्धा है? हां, है! पूंजीवादी बाज़ार में और कुछ हो भी नहीं सकता है। अभी धनी किसान-कुलक वर्ग को लाभकारी मूल्य के ज़रिये जो बेशी मुनाफा प्राप्त होता है, उसके ज़रिये वह इस प्रतिस्पर्द्धा में एक राजकीय संरक्षण को हासिल करता है, जो कि 1960 के दशक में पैदा हुआ था। उस समय पूरी भारतीय बुर्जुआजी को इसकी ज़रूरत थी, जिसके कारणों की हम पिछली किश्त में चर्चा कर चुके हैं। 1990-91 के बाद से यह बड़े पूंजीपति वर्ग और ग़ैर-खेतिहर पूंजीपति वर्ग के लिए एक नकारात्मक बोझ बन गया, जिसके कारण इस व्यवस्था को समाप्त करने की मांगें उठने लगीं, हालांकि कुलक-फार्मर राजनीतिक लॉबी की सामाजिक और राजनीतिक शक्तिमत्ता के कारण कोई भी सरकार इस मांग पर अमल करने की बजाय, लगातार लाभकारी मूल्य को बढ़ाती ही रही। कारण यह कि राजनीति हमेशा अर्थशास्त्र से एक सापेक्षिक स्वायत्तता रखती है, हालांकि वह उसी की सान्द्र अभिव्यक्ति भी होती है। निश्चित तौर पर, लाभकारी मूल्य की यह व्यवस्था व्यापक मेहनतकश आबादी के भी खिलाफ़ है क्योंकि यह एक प्रकार का इजारेदारी लगान (monopoly rent) है और इस रूप में यह उत्पाद की कीमतों को ऊंचा बनाने और महंगाई पैदा करने का काम करता है। सभी इस बात को जानते हैं।

इन दोनों वर्गों के बीच लाभकारी मूल्य को लेकर कोई संघर्ष क्यों हो रहा है, यदि इनके बीच बेशी मूल्य के विनियोजन में अपने हिस्से को कायम रखने और बढ़ाने की लड़ाई और प्रतिस्पर्द्धा नहीं है? और पूंजीवादी प्रतिस्पर्द्धा का मूल उद्देश्य ही यही होता है: कुल विनियोजित बेशी मूल्य में अपनी हिस्सेदारी को कायम रखना और बढ़ाना। लेकिन मार्क्सवाद का यह इमला भी पीआरसी के इस बौद्धिक बौने के लिए हीब्रू के समान है।

दूसरी बात, *माटसाब* का धनी किसानों के निचले संस्तर (उनके अनुसार 'किसान बुर्जुआजी') और "अति-अति धनी किसान"' (पूंजीवादी किसान) के बीच का फर्क ही बोगस है और आय पर आधारित मूर्खतापूर्ण समाजशास्त्रीय तर्क है, जिसकी मार्क्स और लेनिन ने बार-बार खिल्ली उड़ाई है। **लेनिन ने 'रूस में पूंजीवाद का विकास' और अपनी तमाम रचनाओं में स्पष्ट तौर पर बताया है कि वर्गीय संश्रय बनाने के लिए जो अन्तर की रेखा खींची जानी है, उसका मूल है वे किसान जो उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं और दूसरी ओर वे फार्मर जो उजरती श्रम का शोषण करके पूंजीवादी बाज़ार के लिए मुनाफे को अधिकतम बनाने हेतु उत्पादन करते हैं, पूंजी संचय करते हैं, बेशी मूल्य का पूंजी में रूपान्तरण करते हैं, मशीनीकरण कर शोषण की दर और मुनाफा बढ़ाते हैं, पूंजी का वैविध्यकरण कर लगान, सूद, व्यापारिक मुनाफे और उद्यमी मुनाफे को कमाते हैं।** आज पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और देश के सभी हिस्सों के कुलक व धनी फार्मर बाद वाली श्रेणी में आते हैं और वे एंगेल्स के 'बड़े किसान' के समान सामान्य माल उत्पादक से पूंजीवादी माल उत्पादक बनने के संक्रमण में नहीं हैं, बल्कि कई दशकों से मार्क्स के अर्थों में 'उपयुक्त रूप से पूंजीवादी' बन चुके हैं। इस पर इतने अध्ययन मौजूद हैं, जिन्हें उद्धृत किया जाय, तो पूरी पुस्तक बन जाएगी। इसलिए निश्चित तौर पर धनी कुलकों-फार्मरों का वर्ग ग्रामीण पूंजीपति वर्ग ही है, उसमें वह किसान बुर्जुआजी (पूंजीवादी किसान) की भूमिका में भी शामिल है, पूंजीवादी भूस्वामी के रूप में भी, सूदखोर के रूप में भी और व्यापारी के रूप में भी। **और निश्चित रूप में, एक वर्ग के तौर पर इस समय वह कारपोरेट पूंजीपति वर्ग के साथ प्रतिस्पर्द्धारत ही है, अन्यथा हम अपनी आंखों के सामने लाभकारी मूल्य के लिए हो रहा कोई आन्दोलन देख ही नहीं रहे होते। यह सीधी-सी बात किसी बच्चे को भी समझाई जा सकती है, लेकिन पीआरसी के बौद्धिक बौने को यह समझना मुश्किल है।**

यह समझना भी ज़रूरी है कि मौजूदा अन्तरविरोध के बावजूद, यह धनी किसान और कुलक वर्ग स्वयं हज़ारों तारों से बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग के साथ बंधा है और जनता के साथ इसका कोई भी हित साझा नहीं है। तात्कालिक तौर पर किसी क्षण इसके हित बड़ी पूँजी से टकरा सकते हैं और इनके बीच अंतरविरोध तीखे भी हो सकते हैं, जैसा कि पूँजीवाद में अक्सर बड़ी पूँजी और छोटी पूँजी के बीच होता भी है। लेकिन यह अंतरविरोध दुश्मनाना अंतरविरोध की श्रेणी में नहीं आ सकते हैं। गांव में इस धनी किसान व कुलक वर्ग के बड़ी पूंजी के साथ सम्बन्ध बेहद गहरे हैं और यही वर्ग खेतिहर पूंजीपति वर्ग की भूमिका अदा करता है, लेकिन मास्टरजी जानबूझकर लीपापोती करके और 'किसान बुर्जुआजी' और 'पूंजीवादी किसान' के बीच एक कृत्रिम भेद पैदा करके, इस पर पर्दा डालने का प्रयास करते हैं। दरअसल, दोन किहोते महाशय इन्हें पूंजीपति वर्ग इसलिए नहीं बताना चाहते हैं ताकि उनकी पूंछ में कंघी करने की शर्मनाक हरक़त को क्रान्तिकारी क़रार दे सके, जिसे कि पाठक अब तक समझ ही चुके हैं।

वैसे उपरोक्त उद्धरण में पीआरसी का बौद्धिक बौना अपने चुनौटी भर दिमाग़ के हिसाब से काफी सयानापन दिखलाने की कोशिश करता है और बाद में भाग निकलने के अपने रास्ते बनाता नज़र आता है। मास्टरजी यहां कहते हैं कि वह मानते हैं कि उनकी 'किसान बुर्जुआजी' बुर्जुआ शासन का अब तक स्तम्भ रही है और यहां तक कि हिन्दुत्व फासीवाद का समर्थक रही है और हो सकता है कि कल भी बनी रहे! पहली बात तो यह कि इन सच्चाइयों का इलहाम *माटसाब* को कब हुआ? दूसरी बात, आज भी धनी किसानों व फार्मरों का वर्ग (जो कि किसान बुर्जुआजी ही है, हालांकि *माटसाब* को यह बात समझ नहीं आती!) दक्षिणपंथ और फासीवाद का ही समर्थक है, न कि उसका विरोधी बन सर्वहारा वर्ग के पक्ष में आ गया है। *माटसाब* ने इस बात को लेकर काफी आशावाद दिखलाया है कि धनी किसानों का सभी पूंजीवादी पार्टियों से मोहभंग हो रहा है। इस पर यही कहा जा सकता है कि *माटसाब* अपनी ही *ट्रिप* पर रहना पसन्द करते हैं। अगर ऐसा है, तो धनी किसानों के राजनीतिक प्रतिनिधि चुनाव के बहिष्कार का नारा देने की बजाय, चुनाव वाले राज्यों में महज़ भाजपा-विरोधी प्रचार करते क्यों घूम रहे हैं? कई जगहों पर तो वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्य विपक्षी पार्टियों के साथ सहयोग और सहकार भी कर रहे हैं। **धनी किसान वर्ग की वर्गीय विचारधारा का एक अहम अंग होता है व्यवहारवाद।** वह अपने आर्थिक हितों के लिए कभी इस तो कभी उस बुर्जुआ पार्टी का दामन थामता है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। भारत में किसान राजनीति के पिछले पांच दशकों का अध्ययन करें तो साफ हो जाता है कि धनी फार्मर व कुलक तात्कालिक लाभ के अनुसार अपनी वफादारियों को इस तो उस बुर्जुआ पार्टी को देते और बदलते रहे हैं। आज भी यही हो रहा है, इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। **पंजाब के म्यूनिसपैलिटी चुनावों में धनी किसानों व फार्मरों के भारी समर्थन के बूते ही कांग्रेस को विजय मिली है।** वजह यह कि कुलकों-फार्मरों ने फिलहाल लाभकारी मूल्य पर बुर्जुआ पार्टियों द्वारा अपनाई गई अवस्थितियों के मद्देनज़र पंजाब में अपना समर्थन अकालियों की बजाय कांग्रेस को दिया है। लेकिन *माटसाब* के अनुसार तो उन्हें चुनावों का बायकॉट ही कर डालना चाहिए था क्योंकि उनका सभी पूंजीवादी पार्टियों और पूंजीवादी व्यवस्था से ही भरोसा उठ रहा है! **इतना मूर्ख और बौना शेखचिल्ली वाकई कई दशकों में पैदा होता है।**

2. इतिहास से सबक लेने के नाम पर भारत में कृषि में पूंजीवादी विकास का मनगढ़न्त इतिहास व वर्ग सहयोग की हिमायत

आइंस्टीन ने कहा था कि दो ही चीजें 'असीम' हैं: ब्रह्माण्ड और मानवीय मूर्खता, जिसमें से ब्रह्माण्ड के असीम होने के बारे में आइंस्टीन पक्का नहीं थे। यानी जिस चीज़ के 'असीम' होने के बारे में वह पक्का थे, वह है मानवीय मूर्खता। सम्भवत: इसी से प्रेरणा लेते हुए सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय ने अपना उपनाम 'असीम' रखा है, मुकेश असीम। उनकी मूर्खता भी असीम है। ज़्यादा बेहतर नाम हो सकता था: *मूर्खेश असीम*। इस दोस्ताना सलाह को देने के बाद इनकी मूर्खता की असीमता की पड़ताल करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

'द ट्रूथ' के इसी अंक में सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार या दूसरे शब्दों में कहें तो हमारे *मास्टरजी के मास्टरजी* द्वारा लिखे गए पश्चलेख-2 में भारतीय कृषि और एमएसपी की व्यवस्था का एक ऐतिहासिक मूल्यांकन पेश किया गया है। लेकिन इसमें कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है। यह पश्चलेख दो पूर्वनिर्धारित नतीजे लेकर चलता है जिन्हें सिद्ध करने के लिए इतिहास के साथ काट-छांट और बदसलूकी की जाती है।

पहला नतीजा यह है कि भारतीय कृषि के दो चरण हैं। पहला चरण वह था जब खेती में अतिउत्पादन नहीं था और किसानों में एमएसपी के प्रति खास आकर्षण नहीं था। कृषि में दूसरा चरण करीब तीन दशकों से शुरू हुआ (यानी 1990 से) और अब बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश के कारण अपने चरम पर है और इस कारण से अब एमएसपी की मांग समूची फसल ख़रीद की गारण्टी की मांग में तब्दील हो गई है। इससे ग्रैंड मास्टर मूर्खेश असीम जी यह भी साबित करना चाहते हैं कि दूसरे चरण में भारतीय किसानों की स्थिति रूस की किसान आबादी की तरह हो गयी है!

अपनी बात की शुरुआत सोशल मीडिया जगत के कुर्सीतोड़ पत्रकार एमएसपी के आंदोलन के इतिहास को आज़ादी-पूर्व भारत में ब्रिटिश हुकूमत द्वारा तय की गयी अधिकतम कीमत की *कैप* को बढ़ाने के लिए होने वाले आंदोलनों के ज़िक्र से करते हैं। यह ब्यौरा ही कितना हास्यास्पद है इसे कोई भी पढ़कर समझ सकता है। अंग्रेज़ों ने भारतीय किसानों को लूटने के लिए बाज़ार कीमतों की अधिकतम सीमा तय की थी जबकि एमएसपी लाभकारी मूल्य है जो पूंजीवादी राज्यसत्ता धनी किसान वर्ग को बेशी मुनाफे के रूप में सुनिश्चित करती है और यह कोई

कैप नहीं है जिससे कीमतें ऊपर नहीं जा सकती हैं, बल्कि एक *फ्लोर लेवल* है, जिससे कीमतें नीचे नहीं जा सकतीं हैं। **एक साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों की आदिम संचय के ज़रिये लूट थी, क्योंकि साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों के माल उत्पादकों से असमान विनिमय संचालित करने का एक प्रमुख तरीका कीमत विनियमन होता है, जबकि दूसरा धनी किसानों-कुलकों द्वारा औसत मुनाफे की दर के ऊपर बेशी मुनाफे की मांग है, किसी *कैप* को हटाने की नहीं, बल्कि एक *फ्लोर लेवल* को बनाए रखने की मांग है, जो बेशी मुनाफा सुनिश्चित करे। इन दोनों को एक साथ रखना ही बेवक़ूफ़ी है, लेकिन इस पर विस्तार से थोड़ा आगे विचार करेंगे क्योंकि मूर्खेश असीम को साम्राज्यवादी औपनिवेशीकरण द्वारा आदिम संचय और बेशी मुनाफे के रूप में उन्नत पूंजीवादी संचय के बीच कोई अन्तर ही नहीं समझ आता है।** लेकिन जैसा की हम अब तक देख चुके हैं कि हमारे दोन किहोते महोदय और उनके सांचो पांज़ाओं के लिए मूर्खता ही तर्क है और इस मूर्खता की गंगोत्री हमारे मूर्खेश असीम जी हैं।

सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय ने एक बार फिर अपने अखबारी ज्ञान का प्रदर्शन कर दिया है जो वह अखबार की कतरनों को जोड़-जोड़ कर उत्पादित करते हैं। मार्क्स ने कहा था कि इतिहास के बीते काल के किरदार पुन: अवतरित होने पर उपहास के पात्र बन जाते हैं। हमारे दोन किहोते और उनके सांचो पांज़ा और गुरू द्रोण मूर्खेश असीम भी इतिहास के इस श्राप से ग्रस्त हैं और मूर्खतापूर्ण प्रहसनात्मक कारनामे अंजाम देने के लिए इतिहासवश बाध्य हैं! खैर, पटना के दोन किहोते की मण्डली के 'ग्रेट टीचर' और हमारे *मास्टरजी के मास्टरजी* लिखते हैं:

"In 1960s and 1970s, the production saw a rise under Green Revolution. However, it was still usually less than required consumption and market prices were quite volatile, mostly higher than MSP. Even if the prices were lower at the time of harvest, these tended to go higher a few months later. Hence the rich and middle farmers themselves preferred selling their produce in open market to government procurement at MSP, except in years of depressed prices.

"Farmers were in fact so reluctant to sell to the government in 1970s that it had to impose a Levy proportionate to the cropped area of land, i.e., a minimum quantity to be mandatorily sold to government agencies so that it would have at least the minimum required to operate PDS, even though a very limited one at the time. Many a times raids under police protection had to be resorted to for the purpose as the farmers tended to hide their harvested grains to avoid selling to the government." (From MSP to Purchase Gurantee, 'The Truth', Issue 12)

हमारे कुर्सीतोड़ "बुद्धिजीवी" के अनुसार 'हरित क्रान्ति' के दौर से ही किसानों द्वारा सरकार को एमएसपी पर फसल बेचने की जगह मुक्त बाज़ार में फसल बेचने गंवारा था और इसी कारण राज्यसत्ता द्वारा किसानों से जबरन फसल वसूली की जाती थी क्योंकि किसानों का इस फसल को सरकार को बेचने को लेकर काफ़ी हद तक अनिच्छा रहती थी। लेकिन अपने इस "तथ्य" के लिए सोशल मीडिया बुद्धिजीवी महोदय कोई भी स्रोत बताना ज़रूरी नहीं समझते हैं। हम आपको आगे ठोस आंकड़े बताएंगे, ताकि मूर्खेश असीम का ब्लफ आप पकड़ सकें। उनके हिसाब से यह परिस्थिति 1990 तक मौजूद रही। यह सम्भवत: ग्रैंड मास्टरजी द्वारा अपने साधना बल से पैदा किया गया "तथ्य" है! यहां वह यह भी साबित करना चाहते हैं कि एमएसपी और पीडीएस में कारणात्मक सम्बन्ध है। हम इस तर्क का पहले ही कई जगहों पर खण्डन कर चुके हैं, लेकिन पाठक फिलहाल निम्न लिंक्स को सन्दर्भित कर सकते हैं:
(https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=3706954856055626&id=100002234457183तथा
https://www.facebook.com/abhinav.disha/posts/3654855387932240)%E0%A5%A4)।
इन तथ्यों और तर्कों को पुन: दुहराने की आवश्यकता नहीं है। वह आगे बताते हैं कि 6 प्रतिशत किसानों को ही एमएसएपी का लाभ मिलने का आंकड़ा कृषि के इसी दौर का आंकड़ा है, यानी 1990 से पहले के दौर का आंकड़ा, जब किसानों में मुक्त बाज़ार का आकर्षण मौजूद था:

"To sum up, the rich farmers in that period were fundamentally in support of free trade in agricultural

commodities as they considered themselves to be the dominant players in this market. However, they also asked the government to provide an insurance policy to them in the form of MSP in case the market tanked." (ibid)

यह भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास के पूरे इतिहास और साथ ही पूरी धनी किसान-कुलक राजनीति के उद्भव के इतिहास को सिर के बल खड़ा करके पेश करना है। इस मनोहर कहानी में दो झूठ शामिल हैं। एक यह कि किसानों को 1990 के दशक तक प्रमुखत: मुक्त बाज़ार का समर्थक दिखाया गया है और एमएसपी को केवल एक बचाव बीमा पालिसी (fail-safe measure) के रूप में पेश किया गया है। दूसरा यह कि वर्तमान दौर में किसान मुक्त बाज़ार के समर्थक नहीं हैं। लेकिन इस "अमर चित्र कथा" में लोचा यह है कि 'हरित क्रान्ति' के दौर के बाद से ही टिकैत, चौधरी चरण सिंह, देवीलाल, अजीत सिंह से लेकर अन्य किसान नेताओं की पूरी राजनीति ही लाभकारी मूल्य बढ़ाने और बिजली बिल कम करने पर केन्द्रित रही है। चाहे चरण सिंह द्वारा उत्तरप्रदेश का मुख्यमंत्री बनने पर बेहतर प्रोक्युरमैण्ट प्राइस लागू करने की राजनीति हो या बोट हाउस में प्रदर्शन या फिर महेन्द्र सिंह टिकैत का मेरठ में प्रदर्शन हो -- ये पूरी धनी किसान-कुलक राजनीति मुख्यत: सरकार से संरक्षण हासिल करने के लिए ही थी। चरण सिंह से लेकर देवीलाल तक धनी किसानों और कुलकों की मांगों को लेकर ही आन्दोलन करते थे जिनकी मुख्य मांग ही लाभकारी मूल्य को लेकर थी जिसे कि हमारे कलमघसीट सोशल मीडिया पत्रकार ने गोरेन्फ्लो वाली ही चालबाज़ी के ज़रिये गैर-ज़रूरी और अप्राथमिक बना दिया है। जबकि वास्तविकता यह है कि इस पूरे दौर में सरकारों ने एग्रीकल्चरल प्राइस कमीशन द्वारा पारित दाम से भी अधिक प्राप्ति दाम देकर धनी किसान-कुलक आबादी के बीच अपना वोट बैंक बनाने की कोशिश की। आइये देखें कि प्रख्यात इतिहासकार डीएट्मार रोडरमंड, जिनका भारतीय अर्थव्यवस्था पर वृहत शोधकार्य है, इस विषय में क्या लिखते हैं:

"In spite of the fact that the supply of food grains has been greatly improved, the government has stuck to the by now deeply ingrained practice of procurement at guaranteed prices. The peasants have become used to it. Scrapping this system would mean trouble, and no government wants to alienate the rural voters. Originally the system had been designed in order to cope with bottlenecks in food supply. An independent Agricultural Prices Commission would recommend a procurement price based on a calculation of the cost of production plus an adequate margin of profit. In the period from 1975 to 1981, the government bought about 11 per cent of the total production of food grains each year. This gave a great deal of leverage to the government. **For political reasons, the government often paid more to the peasants that the Agricultural Prices Commission had recommended, although everybody concerned knew that this amounted to a subsidy to the rich peasants and would enhance inflation and thus harm the poor. The prices set for certain types of produce could easily distort the market prices, but political expediency overruled the qualms of economists.** The days when India's planners had aimed at low agricultural prices for the sake of undisturbed industrial development had been long since forgotten. By now an annual increase in the procurement prices was almost a foregone conclusion, as the peasants expected it. The world energy crisis of 1974, which subjected India to an imported inflation, accentuated these problems. As the prices of inputs increased, the peasants were clamouring for higher procurement prices and fertiliser subsidies. The 'Green Revolution' was nursed by the government in this way." (D. Rothermund, **An Economic History of India,** *emphasis ours*)

इसी सच्चाई को आप तीर्थंकर रॉय, राघबेन्द्र झा, नीलांजन बानिक जैसे तमाम आर्थिक इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों ने भी आंकड़ों के साथ स्पष्ट किया है।

जैसा कि आप देख सकते हैं, लाभकारी मूल्य शुरू से ही धनी किसानों-कुलकों को एक बेशी मुनाफा सुनिश्चित करता था। निश्चित तौर पर, जब भारत खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर नहीं हुआ था, तब भी धनी किसान-कुलक इस लाभकारी मूल्य का लाभ सरकार को लाभकारी मूल्य

पर फसलें बेचकर भी उठाते थे, और जमाखोरी और कालाबाज़ार के ज़रिये मुक्त बाज़ार में थोक कीमतों को ऊंचा करके भी उठाते थे, जोकि लाभकारी मूल्य से भी ऊपर हो जातीं थीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि 1990 तक किसानों का मुक्त बाज़ार पर भरोसा हो गया और 1990 के बाद अतिउत्पादन के फलस्वरूप मुक्त बाज़ार में कीमतें नीचे होने के कारण उनका भरोसा लाभकारी मूल्य और पूर्ण फसल ख़रीद की गारण्टी पर हो गया। **यह मूर्खेश जी की असीम कपोल कल्पना ज़्यादा है, जैसा कि हम आगे भी देखेंगे।**

इसके पश्चात ग्रैंड मास्टरजी यह तर्क देते हैं कि पिछले तीन दशकों में उत्पन्न हुए कृषि में अतिउत्पादन के संकट के चलते ही किसान आबादी सरकारी लाभकारी मूल्य पर फसल बेचने को मजबूर हुई है। यहां पर कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया "बुद्धिजीवी" द्वारा दो स्तर पर झोल किया है। पहला झोल यह कि असल में यह संकट तीन दशक से नहीं बल्कि तब से मौजूद है जब से कि धनी किसान-कुलक नेताओं ने अपनी राजनीति चमकाई है। यह चरण सिंह, देवी लाल और टिकैत के उभार का दौर था। इस पूरे कालखंड और उस दौर की कुलक राजनीति के ब्यौरे को आप यहाँ पढ़ सकते हैं। (Paul Brass, **An Indian Political Life-3**) कृषि में अतिउत्पादन कम-से-कम 1980 से ही मौजूद है (। भारत 1978 में ही खाद्यान्न का कुल निर्यातक (net exporter) बन गया था, और वह भी आवश्यक खाद्य रिज़र्व को सुरक्षित करने के बाद।

'हरित क्रान्ति' के ज़रिये धनी पूंजीवादी फार्मरों को लाभकारी मूल्य का प्रेरण (incentive) देकर भारतीय पूंजीपति वर्ग कुल खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने में कामयाब रहा था। अगर यह कार्य मुक्त बाज़ार की कीमतों से ही सम्भव होता, तो लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के आने से पहले ही हो गया होता। क्या कारण था कि उत्पादन और साथ ही धनी पूंजीवादी किसानों-कुलकों के वर्ग में उभार 1966 से 1978 के बीच सबसे तेज़ी से होता है? इसका असल कारण था लाभकारी मूल्य के ज़रिये बाज़ार कीमतों का एक ऐसा *फ्लोर लेवल* निर्धारित होना, जो कि कृषि में उभरते पूंजीपति फार्मर वर्ग को बेशी मुनाफा सुनिश्चित करता था। जबरन न्यूनतम फसल वसूली की कोई भी योजना पूंजीवादी उत्पादन के लिए प्रेरक तत्व का काम नहीं कर सकती थी और यह प्रेरक तत्व थी भी नहीं। कुछ आंकड़े देखें जो कि मूर्खेश असीम के घपलों की पोल खोल देते हैं।

1950-51 में कुल खाद्यान्न उत्पादन 508 लाख टन और 1966-67 में खाद्यान्न उत्पादन 742 लाख टन था। लेकिन 1983 तक खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 1524 लाख टन हो गया, यानी दोगुने से भी अधिक। 1990 तक सात साल में ही यह बढ़कर 1765 लाख टन हो गया। **जैसा कि आप देख सकते हैं, लाभकारी मूल्य की व्यवस्था की शुरुआत से पहले खाद्यान्न उत्पादन में 15 वर्षों में 46 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई थी; लाभकारी मूल्य की व्यवस्था आने के बाद 16 वर्षों में 105 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। 1978 के बाद हुई बढ़ोत्तरी पर ख़ास तौर पर ध्यान देने की ज़रूरत है, क्योंकि तब तक भारत खाद्यान्न में अतिउत्पादन की मंजिल पर जा चुका था।** जाहिर है, कि किसान चाहे मुक्त बाज़ार में अपनी फसलों का एक हिस्सा बेच रहे हों, या फिर बड़ा हिस्सा सरकार को बेच रहे हों, लाभकारी मूल्य बाज़ार कीमतों के लिए भी एक *फ्लोर लेवल* तय करता है और यही कारण है कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था आने के बाद, खेती की उत्पादकता में छलांगे मारते हुए बढ़ोत्तरी हुई। अगर मूर्खेश जी की मानें तो 1990 से पहले लाभकारी मूल्य कोई अहम प्रेरक शक्ति नहीं थी, यहां तक कि जबरन किसानों से एमएसपी पर बिकवाली करवानी पड़ती थी। यदि ऐसा था तो 1965 से पहले मुक्त बाज़ार ने उत्पादकता को ऐसी प्रेरणा क्यों नहीं दी और यदि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को 1990 से पहले किसान तरजीह नहीं देते थे, तो फिर उत्पादकता में इस बढ़ोत्तरी की व्याख्या किस प्रकार की जाएगी?

दूसरी बात, 1965 से पहले खाद्यान्न की सरकारी ख़रीद 40 लाख टन से भी कम थी। लेकिन 1965 में 40.3 लाख टन से बढ़ते हुए 1989 में यह 190 लाख टन पहुंच गयी। 1965 तक कुल उत्पादित गेहूं का मात्र 0.65 प्रतिशत सरकार ख़रीद रही थी; 1966 में यह बढ़कर 3.78 प्रतिशत हुआ और 1977 तक बढ़ते-बढ़ते यह 23.30 प्रतिशत हो चुका था। **क्या यह उत्पादन का मुक्त बाज़ार में अधिक विपणन होना है, या सरकारी दाम पर बिकने की प्रवृत्ति का बढ़ना है?** 1978 के बाद यह और भी बढ़ा। उसी प्रकार 1965 में कुल चावल उत्पादन का 7.38 प्रतिशत सरकारी दाम पर ख़रीदा जा रहा था, जो 1976 तक 12.25 प्रतिशत तक जा पहुंचा। **क्या यह मुक्त बाज़ार की ओर किसानों के उन्मुख होने को दिखलाता है, या लाभकारी मूल्य पर बिकवाली की प्रवृत्ति के बढ़ने को दिखलाता है?**

दूसरी बात, असली तस्वीर पंजाब और हरियाणा के आंकड़ों को देखने से सामने आएगी क्योंकि कुल सरकारी ख़रीद का 65 प्रतिशत इन दो

राज्यों से ही होता रहा है और एमएसपी और एपीएमसी मण्डियों की सबसे सुचारू व्यवस्था इन दो राज्यों में ही लागू हुई। 1965 से पहले पंजाब के कुल चावल उत्पादन का 34 प्रतिशत सरकारी ख़रीद में बिक रहा था, जबकि 1976 तक यह 83.04 प्रतिशत हो चुका था। पंजाब में गेहूं उत्पादन का 3.07 प्रतिशत 1965 तक सरकारी ख़रीद में बिकता था, जबकि 1976 तक यह 51.57 प्रतिशत हो चुका था। उसी प्रकार हरियाणा के कुल गेहूं उत्पादन का 3.06 प्रतिशत 1966 तक सरकारी खरीद में बिक रहा था, जबकि 1977 तक यह 37.23 प्रतिशत तक जा चुका था। उसी प्रकार हरियाणा के कुल चावल उत्पादन का 46.15 प्रतिशत 1965 तक सरकारी ख़रीद पर बिक रहा था, जबकि 1976 तक यह बढ़कर 76.28 प्रतिशत तक जा चुका था।

यानी मूर्खेश असीम जो दावा कर रहे हैं, आंकड़े उसके बिल्कुल विपरीत हैं। क्या यह झूठ बोलना और पाठकों को गुमराह करना नहीं है? क्या मूर्खेश असीम को पता है कि ये सरकारी बिकवाली 1976-77 के बाद भी लगातार बढ़ती गयी है? क्या मुर्खेश असीम दावा करेंगे कि यह सारा काम सरकार ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती से करवाया, या फिर किसान अपनी इच्छा से लाभकारी मूल्य पर सरकार को बेच रहे थे? ज़ाहिर है, असीम जी फिर से कल्पना की एक असीम उड़ान लेकर ज़ोर-ज़बर्दस्ती के पहलू पर ज़ोर देते हुए तथ्यों से ज़ोर-ज़बर्दस्ती कर सकते हैं। लेकिन कोई भी पाठक समझ सकता है कि यहां असीम जी, वही असीमता दिखा रहे हैं, जिसकी चर्चा आइंस्टीन ने की थी: मूर्खता की असीमता।

इसलिए मूर्खेश असीम जी अपनी कल्पना की दुनिया में मुर्गीकुद्दियां मार रहे हैं और अपने मन से बिना कोई स्रोत या सन्दर्भ बताए "तथ्य" गढ़ने का काम कर रहे हैं। यहां वह साधु गोरेन्फ्लो से भी आगे चले गये हैं!

कृषि संकट के इस दौर के पहले से ही एमएसपी की राजनीति भी मौजूद रही है। इनके बीच जिस क़िस्म का कारणात्मक सम्बन्ध ग्रैंड मास्टरजी स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं वह वास्तव में उनके दिमाग़ की ही उपज है। वैसे इस पूरे लेख में ही उन्होंने तथ्य और तर्क अपने मन से पैदा कर लिए हैं। यह करामात इसलिए की गई है ताकि आज के धनी किसान आन्दोलन की एमएसपी की मांग को सही सिद्ध किया जा सके। लेकिन समस्या बस यह है कि सोशल मीडिया के कुर्सीतोड़ "बुद्धिजीवी'' को जिस बात को साबित करना था उसे वह पूर्व-निर्धारित नतीजे के तौर पर सही मानकर चल रहे हैं और इस प्रक्रिया में तथ्य, इतिहास और (कु)तर्कों को अपने मन से गढ़ने का काम भी करते जा रहे हैं।

इसके अलावा, यह पूरा तर्क कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था का लाभ 6 प्रतिशत से ज्यादा किसानों को मिलता है वास्तव में रीतिका खेड़ा-मार्का कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों द्वारा पेश किये आंकडों पर आधारित है। यह आंकड़ा खासतौर पर विकेन्द्रीकृत खरीद योजना को अपना आधार बनाता है जिसके तहत हर पंजीकृत किसान को उसके आधार कार्ड पर ही फसल बेचने दी जाती है। इस कारण से भी यह आंकड़ा बेहद ऊंचा दिखता है। जबकि सच्चाई यह है कि छोटे किसानों की फसल अक्सर व्यापारी और धनी किसान ही बेचते हैं और छोटे किसान इसमें केवल एक स्टाम्प बन कर रह जाते हैं। पढ़ें यह ख़बर: (https://thewire.in/agriculture/odisha-farmers-paddy-procurement-failure)

वैसे तो सच्चाई यह है कि 6 प्रतिशत किसान आबादी को ही एमएसपी का लाभ मिलता है, यह 2016 का सरकारी आंकड़ा है, लेकिन फिर भी अगर एक पल को यह मान भी लिया जाये कि वास्तव में लाभकारी मूल्य 18-22 प्रतिशत किसान आबादी को मिल रहा है तब भी इस तथ्य से एमएसपी, जो कि धनी किसान-कुलक वर्ग के समर्थन में राज्य द्वारा वसूला जाने वाला एक किस्म का 'ट्रिब्यूट' या बेशी मुनाफा है, के प्रतिक्रियावादी चरित्र पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। यह इसलिए कि ग़रीब-छोटे किसानों समेत देश की ग़रीब आबादी, मुख्यत: अनाज की ख़रीदार है और इसलिए एमएसपी की वजह से खाद्यान्न की बाज़ार कीमतों के लिए जो ऊंचा *फ्लोर लेवल* निर्धारित होता है, उससे व्यापक मेहनतकश आबादी को नुकसान होता है, उसका पोषण स्तर नीचे जाता है और चूंकि उनकी आय का बढ़ा हिस्सा खाद्यान्न पर ख़र्च होता है, इसलिए आम तौर पर उनका जीवन स्तर भी नीचे जाता है। इस तथ्य को सभी संजीदा प्रेक्षक, अध्येता व शोधकर्ता मानते हैं। अनाज की बढ़ती कीमतों से अमीरी-ग़रीबी की खाई ही बढ़ती है।

परन्तु हमारे पटना के दोन किहोते के गुरू यानी सोशल मीडिया के "वामपंथी'' पत्रकार महोदय इस बुनियादी बात को गोलकर जाते है और ऐलान करते हैं कि यह मांग अब ग़रीब आबादी की भी मांग बन गई है! अपनी इस कपोल-कल्पना को सिद्ध करने के लिए उन्होंने पहले यह तर्क गढ़ा है कि पहले के दौर में किसान आबादी खुले बाज़ार के लिए ही पैदा करती थी और एमएसपी पर केवल 6 प्रतिशत आबादी ही फसल बेचती थी। दूसरा मनगढ़न्त तर्क वह यह गढ़ते हैं कि 1990 के बाद से अतिउत्पादन की वजह से कृषि उत्पादों की कीमतें घटी और इस कारण से ही एमएसपी की ओर किसान आबादी का आकर्षण बढ़ा। और आखिर में वह यह दावा करते हैं कि अब यह अर्द्ध-सर्वहारा और ग़रीब किसानों की भी मांग बन गई है! देखें वह क्या लिखते हैं-

"Another reason for rural semi-proletariat to be attracted to this agitation is the frightening crisis of unemployment. The alternative to tilling their small parcels of land by moving to wage work in industry has also been largely foreclosed by the effects of Demonetisation to Lockdown in accentuating the natural consequences of the capitalist production system – a large reserve army of unemployed labour. The section of small marginal peasants affected by this double whammy of crisis is getting attracted to the guarantee of purchase of agricultural produce at assured remunerative prices." (From MSP to Purchase gurantee, The Truth 12, Mukesh Aseem)

हमारे सोशल मीडिया के कुर्सीतोड़ ''बुद्धिजीवी'' को लगता है कि एक बीघा या दो बीघा ज़मीन के मालिक यानी अर्द्धसर्वहारा आबादी खेती के ज़रिये गुजर-बसर करने की योजना बना रही है! यह बात एक ज़मीन से कटा पेटी बुर्जुआ कुर्सीतोड़ ''बुद्धिजीवी'' ही कर सकता है और उसे अपना मास्टरजी मानने वाले पटना के दोन किहोते की टोली ही इस पर यकीन भी कर सकती है! मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन की असलियत यह है कि सिंघु बॉर्डर और टीकरी बॉर्डर पर गरीब किसान परिवारों से लोगों की उपस्थिति सुनिश्चित करवाने के लिए धनी किसान न आने वालों पर जुर्माना लगा रहे हैं! यह अर्द्धसर्वहारा और सर्वहारा आबादी ही है जो अपनी रोज़ी-रोटी के लिए मज़दूरी करती है जिस पर, कुर्सीतोड़ "बुद्धिजीवी" की नज़र में "क्रान्तिकारी" कुलक वर्ग, जुर्माना लगा रहा है! ये ख़बरें पढ़ें:

https://timesofindia.indiatimes.com/city/amritsar/join-stir-or-pay-fine-pb-panchayats-vow-support/articleshow/80607178.cms
https://indianexpress.com/article/india/one-protester-from-every-house-fine-for-non-compliance-punjab-panchayats-move-to-revive-protest-7167123/
https://www.freepressjournal.in/viral/protest-or-pay-a-fine-this-punjab-village-is-rallying-support-for-farmers-agitation-in-an-unusual-way

वैसे तो ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों की एक आबादी इन प्रदर्शनों में राजनीतिक चेतना की कमी और गांवों में अपनी अधीनस्थ स्थिति तथा तमाम आर्थिक व राजनीतिक बन्धनों से धनी किसानों-कुलकों से बंधे होने के कारण भी जाती है, जैसा कि हम अपने पिछले सभी लेखों में बता चुके हैं। इससे इस आन्दोलन का वर्ग चरित्र नहीं बदल जाता है क्योंकि आन्दोलन का वर्ग चरित्र उसकी मांगों, राजनीति और विचारधारा से निर्धारित होता है, न कि उसमें जाने वाली भीड़ से। वैसे तो ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों तथा खेतिहर मज़दूरों की तादाद इन कुलक प्रदर्शनों में घटने लगी थी, इसी वजह से किसान यूनियनों व पंचायतों को जुर्माने लगाकर जबरन उन्हें बुलाने का प्रयास करना पड़ा, अन्यथा इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

जारी आन्दोलन के दौरान ही पंजाब के धनी किसान खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी पर कैप फिक्स कर रहे थे और उसका पालन न करने पर बहिष्कार की धमकी दे रहे थे। निम्न ख़बर पढ़ें:

https://www.hindustantimes.com/chandigarh/punjab-panchayats-pass-resolutions-to-fix-labourers-wages-threaten-dissenters-with-social-boycott-hefty-fines/story-0mqWRvVsqi94UJ4lFeiAGK.html

https://caravanmagazine.in/labour/covid19-dominant-caste-panchayats-in-punjab-pass-resolutions-to-reduce-labour-wages

यह है मौजूदा आन्दोलन के ''समूची किसान आबादी'' का आन्दोलन होने का सच! यह है एमएसपी के आन्दोलन के प्रति ग़रीब किसानों, अर्द्धसर्वहारा व सर्वहारा वर्ग के रवैये का सच! पाठक खुद पढ़ें और देखें कि इन बौद्धिक बौनों की बेईमानी अब किस स्तर पर पहुंच चुकी है। अब यह मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी कर, धनी किसानों-कुलकों की गोद गर्म करने को उतावले हुए जा रहे हैं, जो सीधे-सीधे पूरे देश के गांवों में मज़दूरों और ग़रीब किसानों के शोषक, उत्पीड़क और दुश्मन हैं।

इसके अलावा, ग्रैंड मास्टरजी द्वारा भारतीय कृषि को जिन दो दौरों में बांटा गया है -- एक, जब अतिउत्पादन नहीं था (1990 तक) और दूसरा जब अतिउत्पादन शुरू होता है जो अब तीन कृषि कानूनों के लागू होने की वजह से ठीक से शुरू हो रहा है। **यह भी बकवास और एक फर्जी बंटवारा है।** भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास के चरण के रूप में इन दोनों दौरों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। वास्तव में, भारतीय कृषि 1977-78 से ही अतिउत्पादन के दौर में प्रवेश कर चुकी थी। 1960के दशक से पूंजीवादी विकास के तीव्र होने की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, 1970 के दशक के मध्य तक वह एक मुकाम तक पहुंच चुकी थी। 1990 में जो फर्क आया वह महज़ कृषि क्षेत्र के लिए नहीं बल्कि पूरी भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए आया, जब सभी आर्थिक क्षेत्रों को उदारीकरण के लिए खोलने की शुरुआत हुई। उल्टे सच्चाई यह है कि इस मामले में कृषि का क्षेत्र उदारीकरण की ज़द में सबसे देर में आया। कृषि के क्षेत्र में 1990 विशिष्ट रूप से कोई मील का पत्थर नहीं है। यदि भारतीय कृषि में सही मायने में मील का पत्थर तलाशें तो वह 1965-66 में 'हरित क्रान्ति' की नीतियों के ज़रिये एक पूंजीवादी कुलक-धनी फार्मर वर्ग को खड़ा कर पूंजीवादी विकास और उत्पादकता को बढ़ाना था, दूसरा मील का पत्थर 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में इस प्रक्रिया का एक मुकाम पर पहुंचना था और 1990 भारतीय कृषि के लिए विशिष्ट रूप में नहीं बल्कि उन सामान्य अर्थों में ही एक मील का पत्थर था, जिन अर्थों में पूरी भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए ही वह एक मील का पत्थर था।

अन्तत: सोशल मीडिया पर "बौद्धिक आंधी'' चलाने वाले "वामपंथी" पत्रकार आखिरी तर्क यह गढ़ते हैं कि धनी किसान आन्दोलन की मांग समस्त फसल की खरीद की गारण्टी की मांग है। यह वही बात है जो हमारे दोन किहोते महोदय द्वारा कही गयी थी (या सम्भवत: उन्होंने मूर्खेश जी से चुरा ली थी, क्योंकि *माटसाब* की यह पुरानी आदत है!) और अब स्पष्ट कर देती है कि मास्टरजी के ऊल-जुलूल कुतर्कों और फर्जी दावों का वास्तविक स्त्रोत क्या है--जी हाँ, इन्ही कुर्सीतोड़ "बुद्धिजीवी'' की "बौद्धिक जुगाली'' है, जिससे गिरी लार को हमारे *माटसाब* अमृत समझकर चाटे जा रहे हैं। इसके आधार पर पुन: यह दोहराया जाता है कि यह मांग अपने आप नये राज्य की परिकल्पना तक ले जाएगी! देखें कि ग्रैंड मास्टर शेख़चिल्ली क्या लिखते हैं-

"If we analyse the demand of purchase guarantee for all agricultural produce at fixed prices by the government then it also leads to the demand for the public distribution of foodstuff at fixed prices. But market and trade are the very basis of capitalist system whereas this demand negates the private trade in agricultural produce. Therefore, capitalist state is in no position to concede this demand. Besides, looked at from another angle, while opposing contract farming with private capital, it is a demand by the farmers for the state to have direct contract for farming with them. But, can the capitalist state do that? The purchase guarantee of whole agricultural produce at fixed prices or contract farming between state and farmers is possible only in a socialist state. Only a socialist state with planned economy for fulfilling needs of the society can contract with the farmers to supply them all necessary inputs and implements and buy their surplus produce at assured prices to fulfil food requirements of non-agricultural population." (ibid)

यहां एक बार फिर इनके द्वारा दोहराया गया है कि किस तरह एमएसपी और पूर्ण फसल ख़रीद की गारण्टी की मांग अपने आप में पूंजीवादी व्यवस्था में पूरी होना सम्भव नहीं है। हालांकि यह बात बोलकर भी इन जनाब से यह खुलकर नहीं बोला जा रहा है कि वह इस मांग का समर्थन

कर रहे हैं। हमने पिछले लेख में ही इनके इस दोमुँहेपन को बेपर्द किया था जोकि वास्तव में क्रांतिकारी साहस के अभाव से पैदा होता है, लेकिन इस पर मास्टरजी और ग्रैंड मास्टरजी, दोनों ने अवसरवादी चुप्पी साध रखी है।

पहली बात तो यह है कि मौजूदा किसान आन्दोलन समस्त कृषि उत्पाद की पूर्ण सरकारी ख़रीद की गारण्टी की कोई मांग नहीं कर रहा है, वह केवल लाभकारी मूल्य की मांग कर रहा है और अपनी इस स्वतंत्रता को छोड़ने के लिए कतई तैयार नहीं है (और एक पूंजीवादी फार्मर के तौर पर छोड़ भी नहीं सकता है) कि यदि कोई निजी ख़रीदार उसे लाभकारी मूल्य से ऊंची कीमत दे तो वह उसे भी बेच सकता है। सरकारी मण्डियों में बेचना आज भी उसके लिए बाध्यताकारी नहीं है। वह वहां इसलिए बेचता है, क्योंकि यह लाभकारी मूल्य उसे बेशी मुनाफा देता है। **दूसरी बात, लाभकारी मूल्य चूंकि एक फ्लोर लेवल का काम करता है, इसलिए मुक्त बाज़ार में भी धनी पूंजीवादी फार्मरों के लिए यह फायदेमन्द है। तमाम तथ्यात्मक और आनुभविक अध्ययन यह सिद्ध कर चुके हैं कि लाभकारी मूल्य बाज़ार मूल्य के लिए एक सन्दर्भ-बिन्दु (reference point) का काम करता है। इसलिए लाभकारी मूल्य मात्र वह दाम है, जो कि धनी किसानों को बेशी मुनाफा/इजारेदार लगान (monopoly rent) सुनिश्चित करता है। इसका पूर्ण सरकारी ख़रीद से रिश्ता केवल मूर्खेश जी और *माटसाब* के दिमाग में तंत्र-मंत्र विद्या से पैदा किया गया है।**

आखिरी बात यह कि ग़रीब किसानों के लिए मौजूदा आन्दोलन कोई विकल्प नहीं है और न ही उन्हें ऐसा लगता है। आज तो यह बात और भी साफ़ हो चुकी है। आज ग़रीब किसानों, दलितों और खेतिहर मज़दूरों पर जुर्माना लगाकर भी कुलक और धनी किसान उन्हें अपनी ट्रॉली में नहीं बिठा पा रहे हैं। यह बात दीगर है मूर्खेश असीम और *माटसाब* जैसे लोग खुद ही अपनी इच्छा से कुलकों की ट्रॉली के एक कोने में जाकर बैठ गये हैं।

ख़ैर, असल बात यह है की इस पश्चलेख में सोशल मीडिया कुर्सीतोड़ "बुद्धिजीवी'' द्वारा नया कुछ नहीं बोला गया है; बस अपने पुराने कुतर्कों को ही भारतीय कृषि के इतिहास की मनगढ़ंत कहानी की चाशनी में डुबोकर पुन: परोसा गया है, जो कि झूठों, ग़लत तथ्यों और अज्ञान से बदबू मार रही है।

3. बौद्धिक बौना ब्रिगेड का एक और नायाब प्रयास: वर्ग विश्लेषण की जगह जीव जगत की उपमाएं और पुन: समाजशास्त्रीय व्याख्याएं

अक्तूबर क्रान्ति और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में कृषि के इतिहास की ग़लत व्याख्या के आधार पर हमारे *दोन किहोते दि ला पटना* अपनी असली मंशा को उजागर करते हैं। वह बताते हैं कि धनी किसानों और कुलकों के बरक्स आप इजारेदार पूंजीपतियों को रखकर देखें तो वह संत प्रतीत होंगे! दरअसल वह तर्क ऐसे करते हैं: 'क्योंकि मुझे धनी किसान आंदोलन की पूंछ पकड़नी है तो क्या किया जाए?' तो पहले वह गोरेन्फ्लो के कर्मकाण्ड के ज़रिये रूसी क्रान्ति के इतिहास को विकृत करके रूस के कुलकों और धनी किसानों के वर्ग को 'किसान बुर्जुआज़ी' (जिसे यह मूर्खाधिराज पूंजीवादी नहीं मानते!) में तब्दील कर देते हैं ताकि मौजूदा भारत के धनी किसानों-कुलकों को पूंजीपति वर्ग न बताया जा सके। इसके बाद पवनचक्कियों से अपनी जंग जारी रखते हुए मास्टरजी और उनके भी मास्टरजी भारतीय कृषि के इतिहास को मनगढ़न्त किस्सों से विकृत करते हैं और लाभकारी मूल्य की मांग को ज़बरदस्ती फसल की पूरी सरकारी खरीद की मांग में बदल डालते हैं! इसके बाद भी जब उनका प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता है तो वह धनी किसान-कुलक वर्ग को बेचारा और मासूम बताने का प्रयास करते हैं। समाजशास्त्रीय व्याख्याएं मूर्खतापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित होती हैं, जिसका परिचय मास्टरजी अपने सभी लेखों में देते रहते हैं। देखें, वह यहां भी यही कलाबाज़ी कर रहे हैं। वह कहते हैं कि धनी किसान तो ग़रीब किसानों को अतीत में लूटा करते थे और आज वे बेचारे खुद शोषित हैं! यकीन नहीं आ रहा है तो खुद पढ़ लीजिये:

“Please refer to the last sentence of the above quote in which they have said that PRC's author have not raised the

issue of ruin of poor peasants at the hands of rich peasants. This is a white lie. We have written it everywhere though I am not obsessed with the past and don't like to ignore in the name of past the present day most dangerously unfolding situations at a time when the second phase of capitalist farming with the corporates on the top of it is being begun with new farms laws enacted to give them free hand to rob the peasants.

“Let's reiterate to remove any confusion that in the first phase of capitalist farming the rich peasants benefitted the most at the cost of poor peasants and rural labour. But we also recognise that the new farm laws inaugurate the Corporate take over of the first phase of capitalist farming and usher in its next higher stage that will spell disaster first and foremost upon the poor peasants and only after this on other well-to-do peasants.” (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, ‘The Truth’, Issue no. 12)

फिर दोन किहोते महोदय कह उठते हैं कि हमें मोदी व टीवी चैनल सरीखी बहसों में नहीं उलझना चाहिए और आज के ठोस कार्यभारों पर बात करनी चाहिए। आज इजारेदार पूंजीपतियों के कृषि क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ स्थिति पलट चुकी है। ऐसा ही विश्लेषण सोशल मीडिया कुर्सीतोड़ "वामपंथी" पत्रकार के लेख में भी मिलता है। वह भी पटना के दोन किहोते की ही तरह कृषि के दो दौरों की बात करते हैं, जिसमें कि अब स्थिति बदल चुकी है -

“Actually, the capitalist market has moved forward in last three decades in accordance with its own dynamics according to its inherent laws. As a result after three decades of neoliberal economic policies of capitalism a big section of rich and middle farmers, who were earlier enthralled by free trade and open markets, now finds that the pond in which they thought themselves to be the bigger fish getting able to devour and digest small fish has, moving through the lake of national capitalist market, has now completely merged in the ocean of global capitalist market, the ocean which also contains many big sharks and crocodiles compared to whom these rich farmers can very well comprehend that they, in fact, are only prey and not predators.” (From MSP to Purchase guarantee, The Truth 12, Mukesh Aseem)

वाह! यानी चूंकि अब बाज़ार में बड़े इजारेदार पूंजीपति आ चुके हैं और छोटी पूंजी बर्बाद होने के कगार पर है तो अब वह 'शिकारी' नहीं बल्कि 'शिकार' हैं! यह है इनका सारगर्भित विश्लेषण! इस जीव जगतीय उपमा का जवाब हम भी एक जीव जगतीय उपमा से ही देंगे!

तो कहानी कुछ ऐसी है--जंगल में भेड़िये हिरण का शिकार करते थे। अब वहां शेर आ गए और अब इन दोनों के बीच शिकार करने को लेकर आपसी मारामारी शुरू हो गयी। तो भेड़िये अचानक संत बन गए! नहीं महोदय! भेड़िये संत नहीं बने हैं। वे अभी भी शिकार ही करेंगे और वे हिरण को ही मारेंगे भले ही वे खुद भी शिकार हो जाएँ। वे घास नहीं खायेंगे! लेकिन भेड़ियों का ऐसा ‘मेटामोर्फोसिस’ पटना के दोन किहोते के मास्टरजी कर देते हैं! **जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया था, फिर तो इस तर्क से पीआरसी के कार्यकर्ताओं को दिल्ली के मायापुरी के छोटे फैक्ट्री मालिकों के साथ भी एकता बना लेनी चाहिए। उन्हें पटना के भवन-निर्माण मज़दूरों के ठेकेदारों को भी साथ ले लेना चाहिए। क्योंकि गांवों के धनी किसान और कुलकों की ही तरह ये भी बड़े इजारेदार पूंजी का शिकार बन रहे हैं! यह वर्ग सहयोग की कार्यदिशा इनसे देर-सवेर यह भी करवाएगी ही।**

दूसरी बात, कृषि में एक राष्ट्रीय घरेलू बाज़ार, जो 1960 से ही वैश्विक बाज़ार से भी जुड़ा था, 1990 से अस्तित्व में नहीं आया है, बल्कि 1960 के दशक से ही अस्तित्व में है, हालांकि अर्थशास्त्रियों के अनुसार, इसमें राजकीय हस्तक्षेप के कारण कई 'इम्पर्फेक्शंस' मौजूद रहे हैं।

तीसरी बात, ऐसा राष्ट्रीय बाज़ार बन जाने और उसके वैश्विक बाज़ार से सम्बद्ध हो जाने से समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्गों के संश्रय और शत्रु

वर्गों पर कोई असर नहीं पड़ता है। दूसरे शब्दों में, चूंकि आज तक जो अपेक्षाकृत छोटा पूंजीपति ग़रीब किसानों व खेतिहर मज़दूरों को लूट रहा था, उसके सामने उससे बड़े पूंजीपति वर्ग के आ जाने के कारण, वह हमारा मित्र नहीं बन जाएगा।

चौथी बात, यह सच्चाई कि धनी किसान, कुलक और भूस्वामी ग़रीब किसानों, निम्न मंझोले किसानों और खेतिहर मज़दूरों को लूटते हैं, कोई अतीत की बात नहीं है। 2000 से लेकर 2019 तक ही 2 करोड़ से ज़्यादा ग़रीब किसानों ने खेती छोड़ी है, हज़ारों खेतिहर मज़दूरों ने आत्महत्याएं की हैं, और न जाने कितने मंझोले और निम्न मध्यम किसान ग़रीब व परिधिगत किसानों में तब्दील हो चुके हैं और आज भी हो रहे हैं। यह आज के भारतीय गांवों की एक ज्वलंत सच्चाई है। इसे अतीत की बात बताने वाला कोई बहुत ही निकृष्ट कोटि का बेईमान अवसरवादी ही हो सकता है। लॉकडाउन के दौरान और मौजूदा आन्दोलन के दौरान भी इन्हीं धनी किसानों और कुलकों ने अपनी पंचायतों में मत डालकर ग़रीब अर्द्धसर्वहारा व खेतिहर सर्वहारा की मज़दूरी पर कैप लगाए थे; आज ये लाभकारी मूल्य की अपनी लड़ाई के धरने में भीड़ बढ़ाने के लिए ग़रीब किसानों व मज़दूरों को जबरन घसीटकर लाने के लिए अपनी इन्हीं धनी जाट किसान व धनी जट्ट किसान पंचायतों के ज़रिये जुर्माने थोप रहे हैं। **यही इनका असली वर्ग चरित्र है।** और चाहे इनका एक हिस्सा बड़ी इजारेदार पूंजी द्वारा सहयोजित कर लिया जाय, एक हिस्सा बरबाद हो जाए, तो भी आज यही सच है कि इनका यही वर्ग चरित्र है। **ये क्या अतीत की बातें हैं? ऐसी बातें मूर्खेश असीम और पटना के दोन किहोते जैसे मज़दूर वर्ग के विभीषणों की कल्पना की असीम उड़ान से ही पैदा हो सकती हैं। इस प्रकार के विश्वासघाती इतिहास और वर्तमान घटनाक्रम दोनों का ही विकृतिकरण कर, उसका एक झूठा संस्करण पेश करने का प्रयास कर रहे हैं, ताकि खेतिहर बुर्जुआजी की पीठ में मसाज कर सकें।**

"धनी किसान सहयोगी हैं, धनी किसान सहयोगी नहीं हैं।" यह हैमलेट का नैतिक द्वन्द्व नहीं पोलोनियस की बंदरकुद्दियाँ हैं!

Hamlet: “Do you see yonder cloud that’s almost in shape of a camel?
Polonius: By the mass, and ‘tis like a camel, indeed.
Hamlet: Methinks it is like a weasel.
Polonius: It is backed like a weasel.
Hamlet: Or like a whale?
Polonius: Very like a whale.”
(*Shakespeare*, **Hamlet**)

पटना के दोन किहोते महाशय हैमलेट की तरह नैतिक संकट की वजह से 'To be or not to be' के द्वन्द्व में नहीं उलझे हैं बल्कि असल में वह अपनी अवसरवादिता और क्रांतिकारी साहस के अभाव के चलते पोलोनियस की तरह अपनी बातों से पलटते हुए बन्दरकुद्दियाँ मार रहे हैं। मास्टरजी एक तरफ तो कहते हैं कि वह मंझोली किसानी और कुलकों के वर्ग को समाजवादी क्रान्ति में सहयोगी नहीं मानते हैं लेकिन अगर उनके तर्क की शिनाख्त करें तो उनके अनुसार “समूची किसान आबादी” एकीकृत होकर मौजूदा किसान आन्दोलन में लड़ रही है जिसमें धनी किसान-कुलक वर्ग शामिल हैं और इन्हें साथ लेकर मास्टरजी समाजवादी क्रान्ति का ऐलान भी कर देते हैं! इसके अलावा वह धनी किसानों तक को सामूहिक खेती में भी सहयोगी बताते हैं। फिर यह बोलने में मास्टरजी की जुबान क्यों लड़खड़ा जाती है कि धनी किसान इनके सहयोगी हैं? हालांकि वह यह भी बोल देते हैं कि लेनिन ने कुलकों के वर्ग को क्रान्ति में साथ लिया लेकिन फिर भी उन्हें सहयोगी बोलने में हमारे दोन किहोते के पसीने छूट जाते हैं! कुतर्कों की ऐसी जलेबी पारना तो कोई हमारे मास्टरजी से सीखे! वह कहते हैं कि उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि वह कुलकों और धनी किसानों को सहयोगी मानते हैं-

"Similarly, we have never called for alliance with rich or even middle peasants to carry out proletarian revolution." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, ‘The Truth’, Issue no. 12)

लेकिन साथ ही मास्टरजी यह भी कहते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति समूची किसान आबादी को साथ लेकर हुई थी और आज भारत में समूची किसान आबादी आन्दोलित है और गांवों में वर्ग संघर्ष शुरू किये बिना शहरों में समाजवादी क्रान्ति कर देने की सम्भावना पैदा हो गयी है। **यह दीगर बात है कि उपरोक्त बातों में तमाम मूर्खताएं और जहालतें हैं, जिनका हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं, लेकिन इतना तो तय है कि मास्टरजी धनी किसानों व कुलकों पर कोई अवस्थिति ही नहीं अपना पा रहे हैं; न तो उन्हें समाजवादी क्रान्ति में मित्र बता पा रहे हैं, न ही शत्रु बता पा रहे हैं। यह उनकी मौकापरस्ती का एक पहलू है।** मास्टरजी "समूची किसान आबादी" का तर्क और इसे अक्टूबर क्रान्ति के इतिहास के विकृतिकरण के ज़रिये मान्यता दिलाने का प्रपंच इसलिए ही रचते हैं ताकि इस आबादी को भी अपनी वाली "समाजवादी क्रान्ति" के आन्दोलन में शामिल कर सकें। पिछली बार इन्होंने आय के आधार पर फर्क कर बताया था कि धनी किसान आबादी बड़ी इजारेदार पूंजी के बरक्स ग़रीब और असहाय है इसलिए हमें उसका साथ देना चाहिए। यहां भी उसी तर्क को हमारे साधू गोरेन्फ्लो एक नया कर्मकाण्ड कर सम्पन्न करते हैं। यह है इस आबादी को, जोकि वास्तव में वर्ग-विभाजित है, एक समूचे एकाश्मी वर्ग की तरह इस्तेमाल करना ताकि हमारे दोन किहोते खुद को सर्वहारा-वर्गीय भी बोल सकें और दूसरी तरफ़ धनी किसानों के आन्दोलन में ठीक से मत्था भी टेक सकें। वह कहते हैं:

"And also, here in lies the reason behind the PRC's call to the working class to intervene into it with a clarion call to the peasants as a whole to choose to unite with the revolutionary proletariat fighting for socialism and proletarian state which will organise the agriculture on socialist line and give the guarantee of not only the purchase of their produce at appropriate price but also a decent and dignified life" (ibid)

तो हमारे दोन किहोते के अनुसार यह "समूची किसान आबादी" सर्वहारा राज्य और समाजवाद के लिए ही लड़ रही है या कम-से-कम उसे इसके लिए राज़ी किया जा सकता है, जिसमें धनी किसान और कुलक भी शामिल हैं!! लेकिन लेनिन ने बताया था कि आप किसी पूरे वर्ग को मूर्ख नहीं बना सकते। इस प्रकार का दुस्साहस करने की योजना यदि *माटसाब* बना रहे हैं, तो हमारी ओर से उनको शुभकामनाएं! इस भयंकर शेखचिल्लीवाद के शिकार ढपोरशंखी महाशय से और कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है। **यह महोदय हर अवसरवादी की तरह दो विपरित अवस्थितियों पर एक साथ मौजूद रहते हैं। एक तरफ तो वह धनी किसानों को सहयोगी नहीं मानते परन्तु "समूची किसान आबादी" के अंग के तौर पर भारत में समाजवादी क्रान्ति में इस वर्ग को साथ में लेंगे भी! और एक सच्चे मौक़ापरस्त के तौर पर हमारे मास्टरजी दोनों अवस्थितियों में ढीला रुख भी अख्तियार करते हैं ताकि फंसने की सूरत में पतली गली से कट लेने की जगह भी बची रहे! लेनिन मानो मास्टरजी जैसे बौद्धिक बौनों और अवसरवादियों के लिए ही लिखते हुए कहते हैं कि:**

"When we speak of fighting opportunism, we must never forget the feature characteristic of the whole of present-day opportunism in every sphere, namely, its indefiniteness, diffuseness, elusiveness. **An opportunist, by his very nature, always evades formulating an issue definitely and decisively, he seeks a middle course, he wriggles like a snake between two mutually exclusive points of view, trying to 'agree' with both and to reduce his differences of opinion to petty amendments, doubts, righteous and innocent suggestions, and so on and so forth."** (Lenin, **Collected Works,Vol. VI,** p. 320, *empahsis ours*)

क्या यह बात *माटसाब* द्वारा धनी किसानों को समाजवादी क्रान्ति में साथ लेने या न लेने के सवाल पर की जा रही मौकापरस्त बन्दरकुद्दियों पर शब्दश: लागू नहीं होती है? पाठक स्वयं निर्णय करें।

एमएसपी इसलिए जायज़ है क्योंकि हमारे दोन किहोते महाशय के कल्पनालोक में बड़े इजारेदार पूंजीपति उससे भी अधिक 'ट्रिब्यूट' वसूलेंगे!

अपना समाजशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन जारी रखते हुए पटना के दोन किहोते *मानते* हैं कि एमएसपी 'ट्रिब्यूट' ही है! **लेकिन *माटसाब* को**

इस बोधि-ज्ञान की प्राप्ति कब हुई? हमसे चौर्य-लेखन करके! *पोलेमिक्स* के इतिहास में यह कारनामा इस बौद्धिक बौने के आगमन से ही हो सकता था कि एक पक्ष अपने विरोधी पक्ष से ही चौर्य-लेखन करे! खैर, पीआरसी के बौद्धिक बौने को और कई शर्मनाक मसलों पर 'फर्स्ट' का तमगा मिलना तय है।

लेकिन अगर *माटसाब* लाभकारी मूल्य को एक बेशी मुनाफा, एक इजारेदार लगान (monopoly rent), यानी एक 'ट्रिब्यूट' मानते हैं, तो उसका समर्थन क्यों और कैसे कर सकते हैं? क्योंकि उनको सपने में यह इलहाम हुआ है कि यदि बड़ी इजारेदार पूंजी खेती के क्षेत्र में आ गयी तो वह लाभकारी मूल्य से भी ऊंचा 'ट्रिब्यूट' वसूलेगी।

माटसाब भय से एक भीगी हुई बिल्ली के समान कांपते हुए बोलते हैं कि कॉरपोरेट (बड़े इजारेदार पूंजीपति) तो इससे भी बड़ा 'ट्रिब्यूट' वसूलेंगे! पहली बात तो यह तर्क ही अपने आप में ग़लत है, लेकिन हम इसपर आगे बात करेंगे कि वास्तव में यह बेशी मुनाफा खाद्यान्न यानी सबसे बुनियादी मज़दूरी उत्पाद (wage good) की कीमतों को बढ़ाकर औसत मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव पैदा करता है और *ठीक इसीलिए* बड़ा पूंजीपति वर्ग इसे ख़त्म करना चाहता है। इस पर हमारे मास्टरजी पुन: 'फाल्स बाइनरी' खड़ी करते हैं कि अगर आप मौजूदा धनी किसान आन्दोलन का उसके 'ट्रिब्यूट' के लिए समर्थन नहीं करेंगे तो आप बड़े इजारेदार पूंजीपति के बड़े 'ट्रिब्यूट' के समर्थक हैं। यह तर्क पद्धति भी ग़ज़ब है!

"We have not raised hue and cry over MSP, even though it is very much like a 'tribute' in the present form. Why? Firstly, because, in our view MSP in the old form (without legal guarantee) is not of much value now for the purpose of practical movement as a bigger tribute is going to be imposed by the corporates and has hence become irrelevant as an express issue in the country side" (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग द्वारा अधिक 'ट्रिब्यूट' वसूलने को सिद्ध करने के लिए मास्टरजी स्तालिन को उद्धृत करते हैं:

"It is precisely the necessity of securing the maximum profits that drives monopoly capitalism to such risky undertakings as the enslavement and systematic plunder of colonies and other backward countries,' '(Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

मास्टरजी का ऐसा (कु)तर्क अधिभूतवाद से ठस दिमाग की ही पैदावार हो सकता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि कोचिंग सेंटर पर रटंत विद्या का सबसे रचनात्मक प्रयोग भी अधिभूतवादी ही हो सकता है! *हायर मैथेमैटिक्स* तो छोड़िये अभी हमारे पटना के दोन किहोते बीज गणित (एलजेबरा) भी नहीं समझ पाए हैं। ये केवल अंकगणित (अरिथमैटिक) तक ही सीमित रह सकते हैं। और उसमें भी रट्टे मारते हैं! हमारे मास्टरजी बस परिमाणों के स्तर तक ही परिघटनाओं को समझते हैं, केवल घटती और बढ़ती के रूप में, और वह भी ठीक से नहीं समझते। और इस पर इन्हें अधिभूतवादी कहा जाए तो ये गुस्से में दांत पीसने लगते हैं! खैर, इनके दांत पीसने, अपने बाल नोचने या पवनचक्कियों पर ज़ोर-ज़ोर से गत्ते की तलवार भांजने से हम इनकी आलोचना करना बन्द तो करेंगे नहीं।

यहाँ हमारे दोन किहोते पहले एमएसपी को 'ट्रिब्यूट' के रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन यह बात ऐसे पेश करते हैं कि जैसे वह यह पहले से जानते थे! कोचिंग संस्थान के मास्टरों को अपने छात्रों पर लम्बे समय से रौब झाड़ने के कारण ऐसा 'नर्सिसिस्ट' बोध पैदा हो ही जाता है। मास्टरजी के साथ भी हू-ब-हू यही परिघटना घटी है! पिछले लेख में हमने यह दिखाया था कि लाभकारी मूल्य वास्तव में राज्य द्वारा 'मोनोपोली प्राइसिंग' के ज़रिये धनी किसानों-कुलकों के लिए आम जनता से वसूला जाने वाला 'ट्रिब्यूट' या बेशी मुनाफ़ा है। यह एक प्रतिक्रियावादी मांग है।

पहली बात, यहां पीआरसी के लेखक ने एमएसपी को 'ट्रिब्यूट' बताते हुए भी यह नहीं बताया कि यह एक जनविरोधी मांग है। वह ऐसा कर भी नहीं सकते हैं क्योंकि उन्हें असल में इस मांग को व्यवस्था-विरोधी जो बताना है, इसीलिए मास्टरजी आनन-फानन में यह तर्क गढ़ते हैं कि बड़े इजारेदार पूंजीपति आएंगे तो वह जनता से और अधिक 'ट्रिब्यूट' वसूलेंगे। इसके लिए वह स्तालिन द्वारा उपनिवेशों में साम्राज्यवादी देशों द्वारा लूट को अधिकतम मुनाफे की लूट के उद्धरण से सिद्ध करने की बेकार कोशिश करते हैं, जो कि आदिम संचय का एक रूप है, जबकि बेशी मुनाफे का इजारेदार लगान के रूप में वसूला जाना उन्नत पूंजीवादी संचय का एक रूप है और दोनों में कोई ऐसा व्यक्ति ही तुलना कर सकता है, जिसने मार्क्सवाद-लेनिनवाद की कोई बुनियादी पुस्तक भी ढंग से न पढ़ी हो। यहां *माटसाब* ने फिर से दिखला दिया है कि उन्हें मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला भी नहीं आता। आइये देखते हैं, कैसे।

उपनिवेशों की लूट द्वारा वसूले जाने वाले 'सुपर प्रॉफिट' का बड़ी इजारेदार पूंजी द्वारा बेशी मुनाफे (surplus profit) यानी इजारेदार लगान (monopoly rent) के ज़रिये 'ट्रिब्यूट' वसूली या लूट से तुलना करना ही मूर्खतापूर्ण तुलना है। उपनिवेशों की लूट आर्थिक शोषण के अलावा मूलत: आर्थिकेतर उत्पीड़न पर आधारित होती है और इसीलिए मार्क्स उसे तथाकथित आदिम संचय (primitive accumulation) की श्रेणी में रखते हैं। इसके ज़रिये साम्राज्यवादी शक्तियां उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों व नवउपनिवेशों के उत्पादकों के माल की कीमतों को आर्थिकेतर रूप में नीचे रखती थीं और एक असमान विनिमय को अंजाम देती थीं। इस असमान विनिमय के ज़रिये साम्राज्यवादी ताकतें औपनिवेशिक देशों में आदिम संचय की प्रक्रिया के ज़रिये उत्पादकों को लूटती और उजाड़ती थीं। इजारेदार कम्पनियों द्वारा भी इजारेदारी के ज़रिये एक लगान की वसूली की जा सकती है क्योंकि वे किसी अन्य प्रतिस्पर्द्धी की अनुपस्थिति में कीमतों को उस स्तर पर निर्धारित कर सकती हैं, जो औसत मुनाफे की दर के ऊपर बेशी मुनाफा सुनिश्चित करती हों। **लेकिन अव्वलन तो इजारेदार कम्पनियां यह कार्य मज़दूर वर्ग की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक मज़दूरी उत्पादों (wage goods) के लिए नहीं करतीं क्योंकि यह पूरे पूंजीपति वर्ग के लिए नुकसानदेह होता है, दूसरा जिन मामलों में इजारेदार कम्पनियां इजारेदारी लगान के ज़रिये बेशी मुनाफा यानी एक 'ट्रिब्यूट' वसूलती भी हैं, वह आदिम संचय का कोई रूप नहीं है, बल्कि यह बेहद उन्नत पूंजीवादी संचय का रूप है।** लेकिन चूंकि *माटसाब* को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' भी नहीं पता है, जैसा कि हम कई बार प्रदर्शित कर चुके हैं, इसलिए वह साम्राज्यावाद द्वारा औपनिवेशिक लूट की तुलना इजारेदार कम्पनियों द्वारा वसूले जाने वाले बेशी मुनाफे से कर बैठते हैं, जबकि औपनिवेशिक लूट आदिम संचय का एक रूप होती है।

दूसरी बात, अनाज सबसे मुख्य मज़दूरी उत्पाद (wage good) है जो कि श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए बेहद ज़रूरी है और मज़दूरी का बड़ा हिस्सा इसी पर खर्च होता है। फसलों की कीमत ऊंची होने पर उजरत यानी श्रमशक्ति की कीमत के बढ़ने का दबाव बढ़ता है, यह बात सभी जानते हैं और मार्क्स ने मक्का कानूनों पर हुए विवाद पर अपने हस्तक्षेप में इस पहलू को विशेष रूप में रेखांकित किया था। यह एक वर्ग के रूप में पूरे पूंजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हित में है कि अनाज की कीमतें अधिकतम सम्भव नीची रहें, हालांकि वह बाजार की अराजकता के कारण हमेशा ऐसा करने में कामयाब नहीं भी हो पाता है। **यानी बड़े इजारेदार पूंजीपतियों के आने पर नियमत: कोई अधिक 'ट्रिब्यूट' वसूला जाएगा, यह एक कोरी कल्पना है। यदि खेती के क्षेत्र में चन्द कम्पनियों की इजारेदारी स्थापित हो जाए, तो भी समूचा पूंजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता खाद्यान्न की कीमतों का निर्धारण बेशी मुनाफे को सुनिश्चित करने वाले स्तर पर निर्धारित करने की इजाज़त नहीं देगा क्योंकि पूंजीवादी राज्यसत्ता का काम ही पूंजीपति वर्ग के *सामूहिक वर्ग हित* पूरा करना और वैयक्तिक बुर्जुआ हितों को प्रभुत्वशील बनने से रोकना होता है।** हम आगे इस पर तफ़सील से लिखेंगे कि *माटसाब* को पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी राज्यसत्ता के सम्बन्धों के बारे में कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी नहीं है।

बहरहाल, उपरोक्त कारणों से, जो इजारेदार कम्पनियां विलास वस्तुओं (luxury goods) या अन्य वस्तुओं के क्षेत्र में इजारेदारी स्थापित करेंगी, वे अवश्य एक इजारेदार लगान या ट्रिब्यूट वसूल सकती हैं, लेकिन प्रमुख मज़दूरी उत्पादों (wage goods) के सेक्टरों में सामान्य रूप में और एक रुझान के रूप में यह सम्भव नहीं है। यह मार्क्सवाद का इमला है, जिसे आरम्भिक विद्यार्थी भी समझते हैं, लेकिन पूर्ण गंजत्व को प्राप्त हो चुकी *माटसाब* की कुतर्कपद्धति यह समझने में अक्षम है।

इसे इस बात से भी समझा जा सकता है कि उन देशों में जहां खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश हो चुका है वहां चावल और तमाम

खाद्यान्नों की कीमतें भारत से नीचे हैं और पिछले कुछ वर्षों से आम तौर पर खाद्यान्न की कीमतें भारत में अन्तरराष्ट्रीय कीमतों से ऊपर हैं। लेकिन जब हम यह तर्क देते हैं तो मास्टरजी कुर्सी पर चढ़कर उचल-कूद मचाने लगते हैं की "देखो! ये कॉर्पोरेट समर्थक हैं! देखो! ये मोदी भक्त हैं!" जबकि इसका कारपोरेट का समर्थन करने से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। यह खेतिहर बुर्जुआजी द्वारा वसूले जा रहे उस ट्रिब्यूट की असलियत को जाहिर करने वाला एक तथ्य है, जिसकी कीमत आम मेहनतकश जनता चुकाती है। हम जानते हैं कि यह समझने के लिए किसी व्यक्ति को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' आना चाहिए, लेकिन हम यह भी जान चुके हैं कि हमारे मास्टरजी का इस मामले में डब्बा गोल है और जब भी हम उन्हें मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों की याद दिलाने का प्रयास करते हैं, तो वह बोल उठते हैं: "अब्बा-डब्बा-झब्बा"।

हमारे मास्टरजी के ठस दिमाग के कबूतरखाने में अंकगणित के कुछ सूत्र ठूंस-ठूंस कर भरे हुए हैं जिसके कारण उसमें मार्क्सवाद के लिए कोई जगह नहीं बची है। और उन्हें जब यह बताया जाता है तो वह पलटकर कहते हैं कि "तुम कॉरपोरट समर्थक हो और हम घनघोर सर्वहारा क्रान्तिकारी"! इसके बाद वह हमारी अवस्थिति के पुतले पर फुफकारते हुए टूट पड़ते हैं। हमने बताया था कि जीव जगत में इस व्यवहार को 'डाएमैटिक' व्यवहार कहा जाता है। *आस्ट्रेलिया में पाई जाने वाली एक छिपकली खतरा आने पर अपने गले की खाल को इस तरह फुला लेती है जिससे उसका मुख विशालकाय प्रतीत होता है और मौका पाते ही भाग लेती है।* ऐसा व्यवहार किसी के द्वारा बहस में करना अशोभनीय लगता है लेकिन पीआरसी के लेखक महोदय इसमें महारत हासिल कर चुके हैं। वैसे इसमें ज़्यादा ताज्जुब की बात भी नहीं है क्योंकि हमारे मास्टरजी को 'कुलक-गीता' का सार बताने वाले रणछोड़ जी, यानी उनके 'कृष्ण' मूर्खेश असीम जी, यानी हमारे *मास्टरजी के मास्टरजी*, स्वयं एक 'कैथेडर समाजवादी' हैं! **ऐसे में, उनका शिष्य ऐसा बौद्धिक बौना निकला तो इसमें ताज्जुब की क्या बात है?**

4. मास्टरजी की ग़लतबयानी, झूठ और मौक़ापरस्त चुप्पियां तथा पवनचक्कियों पर हमला बदस्तूर जारी है!

हमने पिछली बार दिखाया था कि पटना के दोन किहोते अपनी वर्ग सहयोगवाद की कार्यदिशा को छिपाने के लिए और अपने कार्यकर्ताओं के सामने अपनी इज्ज़त बचाने के लिए एक नकली शत्रु खड़ा करते हैं। वह हमारी अवस्थिति को ग़लतबयानी करके व झूठ बोलकर तोड़ते-मरोड़ते हैं और जिन मूल मसलों पर उनके कुतर्कों को हमारे द्वारा उजागर किया गया है उन पर अवसरवादी चुप्पी साधकर पतली गली से निकलने का प्रयास करते हैं। और जब वह कुछ और नहीं कर पाते हैं तो बदहवास बौखलाहट में हमें बड़ी इजारेदार पूंजी का समर्थक घोषित कर देते हैं! हम अब यह दिखाते हैं कि उन्होंने हमारी अवस्थिति को पुन: कैसे तोड़ा-मरोड़ा है-

"They write –

"इसलिए आज बड़ी इजारेदार वित्तीय पूंजी इसे अपने हितों के मातहत खत्म करना चाहती है। यह एक अलग बात है। ...लेकिन इसका खत्म होना किसी भी रूप मे मज़दूर वर्ग, गरीब व निम्न-मंझोले किसानों और शहरी निम्न मध्यम व मध्यम वर्ग को नुकसान नहीं पहुंचाने वाला है।"

"That's why we say that they see in corporates a liberator. But lets us explain it a little more to understand how exactly they do so and where lies their betrayal. They say this 'tribute' is being ensured and imposed because of government monopoly over price-fixation favouring rich peasants. Alright! Let us ask: how is this liberation form MSP in the form of tribute or government monopoly over price-fixation that ensures this tribute coming? Is it coming through a people's revolution? No, it is coming through a replacement of one by the other where the latter would be imposing a much bigger tribute. This, just this very important thing our super revolutionary turned-apologists of corporates silently conceal from the world. The matter stands that the so called liberation is coming by replacing the government monopoly over price fixation by corporate monopoly over price fixation.(Here

Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes!, 'The Truth', Issue-12)

सबसे पहले हम अपना वह उद्धरण यहां पूरा रख देते हैं जिसे हमारे मास्टरजी काट-छांट कर पेश करते हैं ताकि उसका मन-मुआफिक मतलब निकाल सकें:

"एक दौर में भारतीय पूंजीपति वर्ग को राजनीतिक और आर्थिक कारणों से कृषि में पूंजीवादी विकास के लिए पूंजीवादी धनी किसानों के एक पूरे वर्ग को खड़ा करने की आवश्यकता थी। इसी वजह से 1960 के दशक में तथाकथित 'हरित क्रान्ति' की शुरुआत की गयी और राजकीय संरक्षण के ज़रिये इस पूरे वर्ग को खड़ा किया गया। आज भारतीय पूंजीवाद जिस दौर में है उसे धनी किसान-कुलक वर्ग को इस प्रकार का संरक्षण देने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह बड़ी इजारेदार वित्तीय-औद्योगिक पूंजी के लिए हानिकर है। इसलिए आज बड़ी इजारेदार वित्तीय पूंजी इसे अपने हितों के मातहत ख़त्म करना चाहती है। यह एक अलग बात है। **लेकिन यह ट्रिब्यूट किसी भी सूरत में आम मेहनतकश जनता के पक्ष में नहीं है, बल्कि उसके खिलाफ जाता है।**

"यह दीगर बात है कि इसके ख़त्म होने के बाद भी मेहनतकश जनता को इसका लाभ तभी मिलेगा जबकि वह इजारेदार वित्तीय-औद्योगिक पूंजीपति वर्ग से संघर्ष कर अपनी औसत मज़दूरी को उसी स्तर पर कायम रखे। अन्यथा इस ट्रिब्यूट के ख़त्म होने का पूरा लाभ केवल बड़े वित्तीय-औद्योगिक इजारेदार पूंजीपति वर्ग को ही मिलेगा। *लेकिन इसका ख़त्म होना किसी भी रूप में मज़दूर वर्ग, ग़रीब व निम्न-मंझोले किसानों और शहरी निम्न मध्यम व मध्यम वर्ग को नुकसान नहीं पहुंचाने वाला है। वजह यह है कि यह एक प्रकार का बेशी मुनाफा/लगान है जो पूर्णत: धनी किसानों-कुलकों को व्यापक आम मेहनतकश आबादी की कीमत पर लाभ पहुंचाता है।"* (सनी, **धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग**)

आप देख सकते हैं कि पटना के इस बेईमान बौद्धिक बौने ने हमारे उद्धरण को किस प्रकार काट-छांट कर पेश किया है। इस काट-छांट कर पेश किये गए कथन से हमारे पटना के दोन किहोते यह साबित करना चाहते हैं कि हम कॉरपोरेट (बड़े इजारेदार पूंजी) को ग़रीबों का मुक्तिदाता मानते हैं! लेकिन पटना के दोन किहोते की ग़जब खोपड़ी की जगह कोई स्वस्थ मस्तिष्क वाला व्यक्ति इस पूरे उद्धरण को पढ़े तो पाएगा कि हमने ऊपर यह स्पष्ट किया है कि एमएसपी के खत्म होने से आम जनता को कोई नुकसान नहीं होने वाला है, यह एक बात है और दूसरी बात यह है कि "इसके ख़त्म होने के बाद भी मेहनतकश जनता को इसका लाभ तभी मिलेगा जबकि वह इजारेदार वित्तीय-औद्योगिक पूंजीपति वर्ग से संघर्ष कर अपनी औसत मज़दूरी को उसी स्तर पर कायम रखे। अन्यथा इस ट्रिब्यूट के ख़त्म होने का पूरा लाभ केवल बड़े वित्तीय-औद्योगिक इजारेदार पूंजीपति वर्ग को ही मिलेगा।" ठीक यही बात मार्क्स ने मक्का कानूनों के खत्म होने के विषय में कही थी। **इन दोनों बातों का जानबूझकर घोलमट्ठा बनाकर मास्टरजी बड़ी ही बेईमानी और जालसाज़ी के साथ इसका उल्टा मतलब निकालकर बताते हैं कि हम इजारेदार पूंजी का समर्थन करते हैं!** हालांकि उपरोक्त कथन से हमारा आशय बिलकुल स्पष्ट है और कोई भी दसवीं पास बच्चा भी इसे समझ सकता है। लेकिन जहां तक *माटसाब* की बात है, तो कहना पड़ेगा: 'गजब खोपड़ी दोन किहोते'! (इसका सन्दर्भ समझने के लिए देखें फिल्म 'ओह डार्लिंग, ये है इण्डिया'!!)

दूसरी अहम बात यह कि पटना के शेखचिल्ली महाशय मौकापरस्ती के साथ बार-बार हमारी इस अवस्थिति को गोल कर जाते हैं कि मज़दूर वर्ग बड़ी इजारेदार पूंजी का विरोध **स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति** से करेगा न कि धनी किसानों और कुलकों की ज़मीन से। वह कहते हैं हम ***गरीब किसान को बर्बाद होने के लिए छोड़ रहे हैं।*** यह इतनी वाहियात बात है कि इस पर एक लफ्ज़ भी ज़ाया नहीं किया जा सकता है। लेकिन फिर भी हम नये पाठकों को बता दें कि हम आंकड़ों के साथ दिखला चुके हैं कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था खत्म होने से ग़रीब किसानों को विशेष तौर पर कोई हानि नहीं होने वाली है, उनका उजड़ना अभी तक भी जारी था और आगे भी जारी रहेगा। यदि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के ख़त्म होने से ग़रीब किसानों की बरबादी की रफ्तार बढ़नी होती, तो 2005 के बाद सर्वहाराकरण और विकिसानीकरण की दर बिहार में ज़्यादा होनी चाहिए थी जहां 2005 में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त हो गयी थी; लेकिन 2005 के बाद से यदि हम पंजाब की सर्वहाराकरण और विकिसानीकरण की दर से बिहार की तुलना करें, तो पाते हैं कि वह पंजाब में बिहार से कहीं ज़्यादा है। इसलिए *माटसाब* को

पहले इस दावे को आंकड़ों से पुष्ट करना चाहिए कि धनी किसानों-कुलकों के हाथों सूदखोरी, लगानखोरी और मुनाफाखोरी से जिस दर से ग़रीब किसान उजड़ रहे हैं, कारपोरेट पूंजी द्वारा मुनाफाखोरी से वह उससे तेज़ रफ्तार से उजड़ेंगे, क्योंकि ठोस सच्चाइयां और आंकड़े इस दावे की पुष्टि नहीं करते हैं। और अगर ऐसा होता भी, तो भी ग़रीब किसान, निम्न मंझोले किसान और खेतिहर सर्वहारा वर्ग कारपोरेटों यानी बड़ी इजारेदार पूंजी के विरुद्ध अपना संघर्ष धनी किसानों-कुलकों की ज़मीन से, छोटी पूंजी को बचाने की ज़मीन से नहीं करते, बल्कि अपनी स्वतंत्र मांगों और अवस्थिति के साथ करते। इसलिए *माटसाब* को जो सिद्ध करना है, उसे आकाशवाणी के समान मानने की मूर्खतापूर्ण, सड़कछाप और सस्ती ट्रिक का इस्तेमाल कर उन्हें अपने कोचिंग सेण्टर के छात्रों को मूर्ख नहीं बनाना चाहिए। दूसरी बात, हमने अपने पहले के लेखन में यह भी स्पष्ट किया है कि बड़ी इजारेदार पूंजी के विरुद्ध ग़रीब किसानों की लड़ाई की मांगें और मुद्दे बिल्कुल अलग होंगे। ग़रीब किसानों व खेतिहर सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक रूप से स्वतंत्र मांगें क्या होंगी, इस पर हमारी अवस्थिति जानने के लिए यह पढ़ें:
https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=3750437958373982&id=100002234457183

जैसा कि आप देख सकते हैं, *दोन किहोते दि ला पटना* पुन: ग़लत अवस्थिति को पेश कर उस पर अपने "क्रान्तिकारी शौर्य और वीरता" का परिचय देते हैं, क्योंकि हमारी मूल अवस्थितियों पर वह ऐसा करने में अपने आप को अक्षम और बौना पाते हैं। इस बार कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया "बुद्धिजीवी'' मूर्खेश असीम कहते हैं कि:

"Would such a party have told the farmers to first become proletarians as necessitated by the dynamics of capitalist system, so that the party could then organise them for revolution?'' (From MSP to Purchase guarantee, The Truth 12, Mukesh Aseem)

खैर, हमने इस प्रश्न का उत्तर पहले भी दिया है, पर जब आदमी बौद्धिक बेईमानी और बौनेपन पर अमादा हो तो वह इसे कैसे समझ सकता है? **पहली बात तो यह है कि ग़रीब किसानों के सर्वहाराकरण का कोई कम्युनिस्ट पार्टी इन्तज़ार नहीं करती है और न ही हम कर रहे हैं। लेकिन पहले यह सिद्ध किये जाने की आवश्यकता है कि अब तक धनी फार्मरों-कुलकों की लूट से ग़रीब किसान नहीं उजड़ रहे थे, या कारपोरेट पूंजी के हस्तक्षेप से उनका उजड़ना शुरू होगा। हमने पहले भी लिखा था कि ग़रीब किसानों की मांगों पर उन्हें स्वतंत्र रूप से संगठित किये जाने की आवश्यकता है। उन्हें जबरन उजाड़े जाने के हर प्रयास की मुख़ालफ़त करना कम्युनिस्टों का कर्तव्य है। उनकी स्वतंत्र मांगों पर (जिनका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं) उन्हें संगठित करते हुए भी कम्युनिस्ट उन्हें इस सच्चाई से अवगत कराते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था के रहते उनकी छोटी जोतों की खेती अनन्तकाल तक बरकरार नहीं रह सकती है और वे सामूहिक खेती की समाजवादी व्यवस्था के मातहत ही एक किसान के रूप में अपनी ज़मीन को साझी ज़मीन के तौर पर बचा सकते हैं। इसलिए मूर्खेश असीम का यह आरोप पुतले पर चलाए जा रहे तीर हैं कि हम किसानों के सर्वहारा बन जाने का इन्तज़ार कर रहे हैं।**

दूसरी बात, हम किसानों को एक वर्ग नहीं मानते हैं और ग़रीब, सीमान्त व निम्न-मंझोले किसानों की स्वतंत्र मांगों पर उन्हें संगठित करने और उनके वर्ग हितों के लिए संघर्ष करने के हामी हैं, और कोई भी पढ़ा-लिखा जानकार व्यक्ति आपको बता सकता है कि लाभकारी मूल्य उन मांगों में से नहीं है क्योंकि उसका लाभ इन किसानों को न तो मिलता है और न ही मिल सकता है, क्योंकि वे अनाज के मुख्य रूप से ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता। यह सरल-सी बात दुहराते-दुहराते मुंह में छाले पड़ जाएं, तो भी दोन किहोते और मूर्खेश असीम जैसे बौद्धिक बौनों को नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि अन्त में वे तर्कों का जवाब न दे पाने की सूरत में इसी प्रकार के झूठ और लफ्फाज़ बयानों पर उतर आएंगे (क्योंकि यही उनके लिए सुविधाजनक है!) कि "तुम कारपोरेट समर्थक हो", "तुम मोदी समर्थक हो", "तुम किसानों के उजड़कर मज़दूर बन जाने पर ताली बजा रहे हो", इत्यादि। ऐसे जोकरों को क्या गम्भीरता से लिया जा सकता है?

हमारे द्वारा खेती में इजारेदार पूंजी के प्रवेश की "लुभावनी तस्वीर" पेश की गयी है या वस्तुपरक

तस्वीर पेश की गयी है?

मास्टरजी आगे कहते हैं कि हम खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश की एक लुभावनी तस्वीर पेश करते हैं। मार्क्सवादी वस्तुगत तथ्यों की पड़ताल करते हैं और उसके आधार पर घटनाओं या परिघटनाओं का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं न कि गिरजाघर के पादरियों की तरह नैतिक फैसले सुनाते हैं। दोन किहोते महोदय हमें उद्धृत करके कहते हैं कि

"कॉरपोरेट पूंजीपति खेतों में खाट डालकर बैठने के लिए कृषि सेक्टर में निवेश नहीं करने जा रहे हैं! *कॉरपोरेट पूंजी का निवेश गांव में उत्पादन तथा संचरण की गतिविधियों में होगा...*

“So, you try to paint a rosy picture about the present-day intent and role of big capital which means financial magnets here. It is clear that they see a progressive role of corporate capital in agriculture.

"मशीनीकरण के कारण, यानी कि पूंजी के तकनीकी संघटन (technical composition of capital) में बढ़ोत्तरी के कारण प्रति मशीन मज़दूर की संख्या घटती है। लेकिन **यदि पूंजी संचय स्वस्थ अवस्था में है**, यानी विस्तारित पुनरुत्पादन हो रहा है, *लाभप्रद निवेश के नये अवसर पैदा हो रहे हैं, तो मशीनों की कुल संख्या में भी निरपेक्ष बढ़ोत्तरी होती है और इस प्रकार रोज़गार से विकर्षित मज़दूर आबादी को पूंजी वापस आकर्षित कर सकती है*।

"So, as the time passes, the 'apologists' are becoming bolder and quite above board and clearly admitting the progressive role of today's capitalist-corporate farming in the Indian agrarian sector." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! ‘The Truth’, Issue 12) (*italic and underline ours)*

इतिहास के तथ्य जब मास्टरजी के कुतर्कों के खाके में फ़िट नहीं बैठते तो नैतिक शिक्षा की उबाऊ क्लास लेने वाले *माटसाब* की तरह “लुभावने” और “डरावने” के आधार पर सही-ग़लत का फैसला करना चाहते हैं। अगर सच्चाई मन-मुआफ़िक नहीं है, तो मास्टरजी, आपकी आंखें बन्द करने से वह ग़ायब नहीं हो जाएगी या लुभावनी नहीं हो जाएगी! मार्क्सवादी तथ्यों की पड़ताल नैतिक पैमाने से नहीं करता है। दूसरी बात यह कि हमने पहले भी बताया है कि बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश *ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील है और इसमें हम कुछ नया भी नहीं कह रहे हैं, बल्कि महज़ लेनिन को दुहरा रहे है।* ***क्या माटसाब कृषि में छोटी पूंजी के बरकरार रहने को ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील मानते हैं? अगर ऐसा है, तो उन्हें अपनी पार्टी का नाम 'भारत की नरोदवादी पार्टी (सिस्मोंदीवादी-प्रूधोंवादी)' रख लेना चाहिए!***

खैर, देखें इस विषय में हमने क्या लिखा है-

"जहां तक पूंजीवादी विकास के प्रगतिशील होने का प्रश्न है, तो इसे दो अर्थों में समझा जा सकता है: *पहला, राजनीतिक अर्थों में और दूसरा, ऐतिहासिक अर्थों में, जैसा कि मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन ने बार-बार बताया है और जिससे हमारे पीआरसी के अपढ़ दोन किहोते बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। जहां तक राजनीतिक अर्थ में पूंजीवादी विकास के प्रगतिशील होने का प्रश्न है, वह केवल तब तक प्रगतिशील था जब तक वह सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के निषेध के रूप में प्रकट हो रहा था। आज पूंजीवादी विकास टुटपुंजिया आबादी, छोटी मिल्कियत वाली आबादी, ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों को उजाड़ता है, तो कोई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी उस पर ताली नहीं बजाता और उजड़ती आबादी के तात्कालिक राहत के लिए लड़ते हुए उसे समझाता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में छोटी मिल्कियत की यही नियति है। याद रखें, छोटी मिल्कियत और छोटे पूंजीपति वर्ग में अन्तर है। छोटी मिल्कियत में नियमित रूप से उजरती श्रम का शोषण न करने वाले तमाम छोटे माल उत्पादक शामिल हैं, जबकि छोटा पूंजीपति वर्ग उजरती श्रम का नियमित तौर पर शोषण करने वाला वर्ग है। धनी किसान व कुलक छोटे माल उत्पादक नहीं हैं, बल्कि उजरती श्रम का नियमित तौर पर और अपनी अर्थव्यवस्था के आधार के रूप में शोषण करने वाले पूंजीवादी उत्पादक हैं। अब आते हैं प्रगतिशील होने के दूसरे अर्थ, यानी ऐतिहासिक अर्थ पर।*

"जहां तक ऐतिहासिक अर्थों में पूंजीवादी विकास के प्रगतिशील होने का प्रश्न है, तो निश्चित तौर पर वह ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील ही होता है। पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन जाने के बाद भी उत्तरोत्तर पूंजीवादी विकास ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील ही होता है क्योंकि इसका अर्थ होता है, उत्पादन व श्रम का और बड़े पैमाने पर समाजीकरण और समाजवाद की ज़मीन का तैयार होना। ऐसा कहने में हम कुछ नया भी नहीं कह रहे हैं, बल्कि केवल मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन को ही दुहरा रहे हैं। क्या पीआरसी का लेखक यह कहना चाहता है कि ऐतिहासिक तौर पर पूंजीवादी सम्बन्धों का उत्तरोत्तर विकास प्रगतिशील नहीं है? तब फिर उसे लेनिन की आलोचना लिखने का कार्यभार भी अपने हाथों में ले ही लेना चाहिए! ऐसी सोच अन्ततः टुटपुंजिया आर्थिक रूमानीवाद और छोटी पूंजी के रक्षावाद की ओर ले जाती है।

"लेकिन पीआरसी के लेखक महोदय को एक सच्चे कठमुल्लावादी और कूपमण्डूक के समान पूंजीवाद के प्रगतिशील होने के *राजनीतिक* व *ऐतिहासिक* अर्थों के अन्तर के बारे में कोई जानकारी नहीं है। ऐसे में, इस लेख के दायरे में और उनके बौद्धिक स्तर को देखते हुए उन्हें यह समझाना भी मुश्किल है।" (सनी, **धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग**)

लेकिन हमारे मास्टरजी ने इस बात पर फिर वही पैंतरापलट दिखाया है जो लाभकारी मूल्य के 'ट्रिब्यूट' होने वाली बात पर दिखाया था। **चौर्य-लेखन व चौर्य चिन्तन में उस्ताद यह महाशय हमारी ही आलोचना को चोरी कर ऐसे 'कट, कॉपी, पेस्ट' करते हैं जैसे कि यह जानते हैं कि साम्राज्यवाद ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील होता है। लेकिन अपने पिछले लेख में तो यह जनाब बड़ी इजारेदार पूंजी के खेती में प्रवेश को, कुलकों-धनी किसानों की "मार्मिक" भावनाओं से अनुभूति लेते हुए, भविष्यवाणी कर रहे थे कि गांव के गांव तबाह हो जाएंगे! अब 'द ट्रूथ' के 12वें अंक में एक ग़ज़ब का पैंतरापलट दिखाते हुए यह पल्टू राम मास्टरजी साम्राज्यवाद को हमारी अवस्थिति के अनुसार ही प्रगतिशील बताने की कोशिश करते हैं। हालांकि ऐसा भी वह सही तरीके से कर नहीं पाते हैं क्योंकि इनकी खुद की साम्राज्यवाद की बेहद छिछली और संशोधनवादी समझदारी है।** देखते हैं कि किस प्रकार यहां भी लेनिन की साम्राज्यवाद की थीसिस को बिना समझे इस बौद्धिक बौने ने काऊत्स्कीवादी थीसिस बना डाला है!

बुखारिनपंथ के झूले में बैठकर ऊब गये *माटसाब* सीधे काऊत्स्कीपंथी संशोधनवाद की गोद में गिरे

चौर्य लेखन का सयानापन दिखला साम्राज्यवाद पर अपनी अवस्थिति बदलने के प्रयास में, *दोन किहोते दि ला पटना*, सीधे काऊत्स्कीपंथ के मलकुण्ड में जा गिरे हैं। क्योंकि नकल के लिए भी अकल की ज़रूरत होती है, जो कि *माटसाब* के पास चुटकी भर भी नहीं है। देखिये, यह जनाब काऊत्स्कीपंथ के मलकुण्ड में किस प्रकार गिरे हैं:

"Imperialism is progressive because it is capitalism in transition as Lenin puts it, a stage of capitalism where almost complete socialisation of capital and production have been achieved and the rest is being achieved very fast, and only its appropriation remains private i.e. the outer cover of the shell of capitalism remains reactionary while the content becomes progressive.

"Imperialism intensifies all the underlying capitalist contradictions and conflicts because capital **tends to concentrate in single world trust.** Under imperialism this tendency intensifies to its maximum and in the process destabilises the very shell in which capitalism resides whose content becomes incompatible with capitalism and comes in acute contradiction with its outer shell. With the contradiction further intensifying, the shell of capitalism thus explodes and it turns into socialism." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

अब ज़रा इनके उपरोक्त उद्धरण की भी थोड़ी-बहुत पड़ताल कर लेते हैं। पहली बात तो यह कि हमारे मास्टरजी के अनुसार पूंजी एक "वर्ल्ड ट्रस्ट" में संकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति रखती है, कहना ही मार्क्सवादी-लेनिनवादी अर्थों में ग़लत है और काऊत्स्कीपंथ में पतित होना है। ***माटसाब* पतित होने के मामले में एकदम वैविध्यपूर्ण तरीके से बौद्धिक 'स्ट्रिप्टीज़' करते हैं। कभी बुखारिनपंथ के पंककुण्ड में नहा जाते हैं, कभी त्रॉत्स्कीपंथ के कीचड़ में लोटते नज़र आते हैं, कभी डेविड हार्वी-मार्का अल्पउपभोवाद की गन्द में लथपथ सने पाए जाते हैं, तो कभी काऊत्स्कीपंथी मलकुण्ड में बॉलीवुड की नायिकाओं के समान छपछप करते मिलते हैं।**

मार्क्स ने और लेनिन ने किसी विश्व ट्रस्ट की सम्भावना से इंकार किया है। मार्क्स के अनुसार पूंजी का केन्द्रीकरण निरपेक्ष और एकतरफा प्रक्रिया नहीं है बल्कि यह वैयक्तिक पूंजियों के बीच विकर्षण और आकर्षण के द्वन्द्व के ज़रिये जारी रहती है। आइये देखते हैं कि मार्क्स इस सम्बन्ध में 'पूँजी, खण्ड-1' में क्या लिखते हैं- -

"The growth of social capital is effected by the growth of many individual capitals. All other circumstances remaining the same, individual capitals, and with them the concentration of the means of production, increase in such proportion as they form aliquot parts of the total social capital. **At the same time portions of the original capitals disengage themselves and function as new independent capitals.** Besides other causes, the division of property, within capitalist families, plays a great part in this. With the accumulation of capital, therefore, the number of capitalists grows to a greater or less extent. Two points characterise this kind of concentration which grows directly out of, or rather is identical with, accumulation. First: The increasing concentration of the social means of production in the hands of individual capitalists is, other things remaining equal, limited by the degree of increase of social wealth. Second: The part of social capital domiciled in each particular sphere of production is divided among many capitalists who face one another as independent commodity-producers competing with each other. **Accumulation and the concentration accompanying it are, therefore, not only scattered over many points, but the increase of each functioning capital is thwarted by the formation of new and the sub-division of old capitals.** Accumulation, therefore, presents itself on the one hand as increasing concentration of the means of production, and of the command over labour; **on the other, as repulsion of many individual capitals one from another. This splitting-up of the total social capital into many individual capitals or the repulsion of its fractions one from another, is counteracted by their attraction."** (Marx, **Capital Volume 1**, *emphasis ours*)

मार्क्स के इसी सिद्धान्त से सीखते हुए लेनिन बताते हैं कि कोई एक "विश्व ट्रस्ट" कभी नहीं बन सकता है क्योंकि पूंजीवाद का आम नियम 'असमान विकास' का नियम होता है। एक विश्व ट्रस्ट या कार्टेल का सिद्धान्त ही काऊत्स्की के 'अति साम्राज्यवाद' की थीसिस के जड़ में है। लेकिन मार्क्स के ही समान लेनिन इसे *सैद्धान्तिक तौर पर भी* असम्भव मानते हैं। यही चीज़ लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को हिल्फर्डिंग और काऊत्स्की के साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों से अलग करती थी, हालांकि इन दोनों में स्वयं कई अन्तर थे। लेनिन काऊत्स्की की 'अति-साम्राज्यवाद' की अवधारणा को 'अति-मूर्खता' का सिद्धांत बताते हैं और कहते हैं कि यह किसी भी तरह दी गई ऐतिहासिक परिस्थितियों में सम्भव नहीं है। लेनिन बताते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इजारेदारी कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती, वह कभी प्रतिस्पर्द्धा को नहीं समाप्त कर सकती।

लेनिन एक अकेले विश्व कार्टेल या इजारेदारी के विचार को एक *शुद्ध रूप से आर्थिक अमूर्तन* मानते हैं, जो कि वास्तविकता में सम्भव नहीं है क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था का आम नियम होता है असमान विकास। इसके कारण, बड़ी से बड़ी इजारेदारियों के नये प्रतिस्पर्द्धी पैदा हो जाते हैं, बड़ी से बड़ी इजारेदारियां, जो कि आम तौर पर ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियां, कार्टेल आदि होते हैं, आन्तरिक असमान विकास के कारण टूट

जाती हैं। जब आप एक वर्ल्ड ट्रस्ट या कार्टेल जैसी किसी चीज़ की बात कर रहे होते हैं, तो आप हिल्फर्डिंग और काऊत्स्की के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की बात कर रहे होते हैं, जिस प्रकार पटना के दोन किहोते कर रहे हैं। कोचिंग सेण्टर के मास्टरजी को, एक बार फिर से कहना पड़ेगा, ढंग से मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की पढ़ाई की सख़्त ज़रूरत है। **लेकिन इतने अहंकारी और बेईमान बौद्धिक बौने को कोई कुछ सिखा भी नहीं सकता है, जो जानता कुछ भी नहीं है लेकिन चौर्य-लेखन और चौर्य-चिन्तन के बूते सबकुछ जानने का ढोंग करता है और उस ढोंग को भी ढंग से करने लायक बुद्धि इसके पास नहीं है, जिसके कारण उपरोक्त ग़लती जैसी भयंकर ग़लती कर ही देता है।**

बहरहाल, लेनिन के पूर्ण इजारेदारी या एक वर्ल्ड ट्रस्ट या कार्टेल पर विचारों को देख लेते हैं। लेनिन लिखते हैं:

"Certainly, **monopoly under capitalism can never completely, and for a very long period of time, eliminate competition in the world market** (and this, by the by, is one of the reasons why the theory of ultra-imperialism is so absurd)." (Lenin, **Imperialism: the Highest Stage of Capitalism**)

और देखें:

"We shall have to deal with this "theory of ultra-imperialism" later on in order to show in detail how decisively and completely it breaks with Marxism. At present, in keeping with the general plan of the present work, we must examine the exact economic data on this question. "From the purely economic point of view", is "ultra-imperialism" possible, or is it ultra-nonsense?

"**If the purely economic point of view is meant to be *a "pure" abstraction***, then all that can be said reduces itself to the following proposition: development is proceeding towards monopolies, hence, towards a single world monopoly, towards a single world trust...**If, however, we are discussing the "purely economic" conditions of the epoch of finance capital as a *historically concrete epoch* which began at the turn of the twentieth century then the best reply that one can make to the lifeless abstractions of "ultra-imperialism" (which serve exclusively a most reactionary aim: that of diverting attention from the depth of existing antagonisms) is to contrast them with the concrete economic realities of the present-day world economy."** (ibid, *emphasis ours*)

लेनिन फिर से एक वर्ल्ड ट्रस्ट के पैदा होने के विचार के शुद्ध आर्थिक अमूर्तन होने को चिन्हित करते हुए लिखते हैं कि पूंजीवाद के आम नियम, यानी असमान विकास के नियम, के कारण यह सम्भव नहीं है:

"The difficulty of competing against this trust, actually a single world-wide trust controlling a capital of several thousand million, with "branches", agencies, representatives, connections, etc., in every corner of the world, is self-evident. **But the division of the world between two powerful trusts does not preclude redivision if the relation of forces changes as a result of uneven development**, war, bankruptcy, etc." (ibid)

इसके बाद लेनिन कई उद्योगों व आर्थिक सेक्टरों की मिसाल देकर समझाते हैं कि एक अकेले विश्व ट्रस्ट या कार्टेल का निर्माण क्यों असम्भव है। हिल्फर्डिंग इसे एक सैद्धान्तिक सम्भावना मानते थे और काऊत्स्की इसे अनिवार्यता। लेकिन लेनिन एक सैद्धान्तिक सम्भावना के तौर पर भी इससे इंकार करते हैं और बताते हैं कि यह काऊत्स्की के 'अति साम्राज्यवाद' की अति-मूर्खता

की ओर जाता है। पटना के दोन किहोते जैसे प्रचण्ड मूर्ख से खुली बांहों के साथ इस 'अति-मूर्खता' की ओर भागने के अलावा और किसी चीज़ की उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी!

दूसरी बात यह कि मास्टरजी का यह कहना कि इजारेदार पूंजीवाद के बाहरी खोल का उसके अन्तर्य (श्रम का समाजीकरण) से अन्तरविरोध जब गहराता जाएगा, तब यह फट पड़ेगा, और कुछ नहीं बल्कि विशुद्ध स्वत:स्फूर्ततावाद है। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि यह बिना सचेतन सर्वहारा शक्तियों के प्रयास के नहीं हो सकता है।

आगे हमारे दोन किहोते साहब नंगे तौर पर बता भी देते हैं कि धनी किसानों और कुलकों को बचाना उनकी राजनीति है! बस इसे गोरेन्फ्लो की कर्मकांडीय चालबाज़ी के ज़रिये "समूची किसान आबादी" को बचाने में तब्दील कर देते हैं। देखें वह क्या लिखते हैं-

"See more …

"ऐसा लगता है कि लेखक महोदय धनी किसानों-कुलकों के साथ तदनुभूति और तादात्म्य स्थापित करते हुए, उनके भय के साथ एकाकार हो गये हैं और धनी किसानों-कुलकों के अस्तित्व पर ख़तरे को समूची ग्रामीण अर्थव्यवस्था और गांवों पर ही ख़तरा मान बैठे हैं और "गांवों को बचाओ" का रूमानी नारा दे बैठे हैं!

"Though, we have not raised any such slogan as "save the villages" slogan, yet we say that it is necessary to save the peasants as a whole from the predatory capitalism. It is our duty and a part of our politics, though not our slogan as such." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth', Issue 12)

यहां हमारे मास्टरजी की धनी किसान और कुलकपरस्त राजनीति और खुलकर सामने आ गई है। लेकिन हमेशा की तरह जलेबी पारने वाली अपनी अवसरवादी-"हम यह करते हैं पर फिर भी हम यह नहीं करते हैं" की शैली में इन महाशय ने 'किसान बुर्जुआज़ी' (जिसमें धनी किसान और कुलक वर्ग शामिल हैं) को बचाने की लाइन को अपनी राजनीति व कर्तव्य कहा है लेकिन फिर भी यह ऐसा कोई नारे नहीं दे रहे हैं! हे मूर्खाधीश! तो फिर आपको ऐसा नारा भी क्यों नहीं दे देना चाहिए?

पहली बात तो यह है कि पूरी किसानी को पूंजीवाद से बचाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि किसान कोई एक सजातीय समुदाय नहीं हैं, बल्कि उसमें पूंजीवादी फार्मर, पूंजीवादी भूस्वामी और कुलक यानी समूचा ग्रामीण पूंजीपति वर्ग भी शामिल हैं। उन्हें *माटसाब* जबरन पूंजीवाद से बचाने पर आमादा हो गये हैं, जबकि ऐसी कोई चीख़-पुकार वह मचा ही नहीं रहे हैं। वे तो स्वयं खेतिहर सर्वहारा व अर्द्धसर्वहारा तथा ग़रीब व सीमान्त किसानों के पूंजीवादी शोषक हैं! लेकिन *माटसाब* मचल गये हैं और छरिया कर ज़मीन पर मुक्के पीट-पीटकर लोटमपोट हो गये हैं कि वह तो पूंजीवादी फार्मरों व कुलकों को पूंजीवाद से बचा कर ही रहेंगे! जहां तक पूंजीवादी फार्मरों और कुलकों का सवाल है, वे पूंजीवाद से मुक्ति नहीं चाहते हैं (क्योंकि उनके घरों में जो श्कोडा, फॉर्चूनर और इनोवा खड़ी हैं जिनमें लदलदकर वे सिंघू बॉर्डर व टीकरी बॉर्डर पहुंचे थे, वे पूंजीवादी लूट और शोषण के ज़रिये ही आई हैं!) वे केवल अपने से बड़ी पूंजी के समक्ष संरक्षण चाहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वे उनके समक्ष प्रतिस्पर्द्धा में उसी प्रकार नहीं टिक पाएंगे जिस प्रकार ग़रीब और मंझोले किसान *उनके यानी धनी किसानों-कुलकों* के खिलाफ प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक पाते हैं। लेकिन *माटसाब* के पास कोई वर्ग दृष्टि नहीं है। वे कुलकों-फार्मरों के ट्रैक्टरों में डीजल डालने के लिए लोटा लेकर घूम रहे हैं।

मास्टरजी द्वारा जवाब न होने पर झूठ बोलना और बात गोल-गोल घुमाकर अपनी दबी पूँछ बचाने

का प्रयास करना

हमारी कई आलोचनाओं पर दोन किहोतेजी सीधे-सीधे झूठ बोल गए हैं और बात गोल-गोल घुमाने का प्रयास किया है। हमने उनके द्वारा धनी किसानों को लुभाने के लिए दिए गए "उचित दाम" के भ्रामक नारे को बुखारिनपंथ का उदाहरण बताया तो इस पर उन्होंने यह कहा है कि वह 'नेप' के दौर की बात ही नहीं कर रहे थे तो बुखारिनपंथी होने की उनकी आलोचना कैसे की जा सकती है? कभी-कभी तो यकीन नहीं होता है कि मास्टरजी क्या-क्या करतब दिखाने में सक्षम हैं! यह जनाब इस बात को ऐसे पेश करते हैं जैसे कि यह बात हमने छिपाई हो कि यह 'नेप' के दौर की बात है! देखें मास्टर साहब क्या लिखते हैं-

"The matter under discussion belongs to the arena of the victory of Collective farm mass movement, when the kulaks were eliminated as a class, socialist industrialisation had emerged victorious with flying colours and even the last traces of pre-1917 Russia's exploitative past were swept away, but, our 'apologists' are so shameless that they quote Stalin's statement that he gave to fight Bukharin's line of giving primacy to Kulaks for the development of agrarian economy. He (Bukharin) had to say that that if kulaks grow richer it is advantageous to socialism for it helps in getting more grain." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth', Issue-12)

हालांकि 'द ट्रूथ' के 11वें अंक में आये लेख में मास्टरजी ने कहा था कि "मैंने तो सोवियत समाजवाद के इतिहास की बात ही नहीं की थी" और अब जब इसकी चोरी पकड़ी गई तो यह जनाब कहते हैं कि वह तो सामूहिक खेती के दौर के बारे में बात कर रहे हैं! गरम तवे पर लगातार उछलते रहने के ऐसे ही भीषण परिणाम सामने आते हैं, जिस तवे पर मास्टरजी बहस की शुरुआत से ही पालथी मार कर बैठे हुए हैं! वैसे यह हर अवसरवादी का प्रिय तरीक़ा होता है कि वह अपनी बात सोचे-समझे तरीक़े से इतना धुंधला और अमूर्त बनाकर पेश करता है कि पकड़े जाने पर कहे कि उसका यह अर्थ तो नहीं था! लेकिन जैसा कि हमने पहले भी कहा था कि मास्टरजी लिखकर फंस गए हैं!

यहां अहम बात यह है कि सवाल इसका है ही नहीं कि कुलकों को धनी बनाने के लिए ऊंचे दाम देने का प्रश्न 'नेप' के दौरान बुखारिन द्वारा उठाया गया था। जाहिर है, वह सामूहिकीकरण के पूरे होने के बाद ऐसा कोई सवाल नहीं उठा सकता था और उठाने की स्थिति में भी नहीं था! **सवाल यह है कि क्या 'नेप' के दौरान बुखारिन की यह कार्यदिशा सही थी? अगर नहीं, तो आज लागत से 30-40 प्रतिशत ऊंचा "उचित दाम" देने की *माटसाब* की कार्यदिशा कैसे सही है? आज हम सामूहिकीकरण के बाद के युग में तो नहीं जी रहे हैं? बल्कि पूंजीवादी व्यवस्था के मातहत पूंजीवादी खेती के दौर में जी रहे हैं, जिसमें कि गांवों में शासक वर्ग की भूमिका में यही धनी फार्मर और कुलक वर्ग है, जिसके लिए लाभकारी मूल्य (*माटसाब* का "उचित दाम") की मांग पटना के दोन किहोते उठा रहे हैं।** एक कम्युनिस्ट द्वारा आज यह मांग उठाना सीधे-सीधे बुखारिनपंथ और वह भी उसके बेहद अश्लील संस्करण को पेश करना ही है। इसलिए *माटसाब* यहां पर सामूहिकीकरण और 'नेप' के दौर के अन्तर का सवाल उठाकर टागों के बीच दुम दबाकर भागने का बेकार ही प्रयास कर रहे हैं।

दूसरी बात, हम पहले ही दिखला चुके हैं कि सामूहिकीकरण के बाद भी सोवियत सत्ता किसी प्रकार का 30-40 प्रतिशत मुनाफा सुनिश्चित करने वाला दाम सामूहिक फार्मों को नहीं दे रही थी, इसलिए सामूहिकीकरण के बारे में ऐसा दावा करना तो बुखारिनपंथ से भी दो कदम आगे जाता है और *माटसाब* दक्षिणपंथ के पतन की रेस में बुखारिन की आत्मा को इतना पीछे छोड़ चुके हैं, वह एक एक बिन्दु के रूप में भी दिखाई नहीं दे रही। सामूहिकीकरण के बाद 90 प्रतिशत से ज़्यादा खाद्यान्न प्राप्ति दाम व बिकवाली दाम पर खरीदा जाता था, जो किसी भी प्रकार से लाभकारी मूल्य नहीं था। हालांकि *माटसाब* के टुटपुंजिया कचरे से पगे दिमाग़ को यह गुमान है कि सामूहिक किसानों के जीवन स्तर में बिना लाभकारी मूल्य के कोई सुधार नहीं आ सकता था। इस मूर्ख को यह तक नहीं पता है कि सोवियत संघ में मज़दूरों और सामूहिक किसानों के जीवन स्तर में छलांग लगने का कारण लाभकारी मूल्य या ऊंची मज़दूरी नहीं थी, बल्कि शोषण का खात्मा था, श्रमशक्ति का माल के रूप में समाप्त होना था, एक सुनियोजित अर्थव्यवस्था के साथ अराजकता का न्यूनातिकरण और उत्पादन और वितरण में सन्तुलन का स्थापित होना

था। इसके विषय में हम अपनी आलोचना की पिछली किश्त में लिख चुके हैं, जिसे पाठक सन्दर्भित कर सकते हैं।

इसके अलावा, 'द ट्रूथ' के 12वें अंक में आये लेख में ही मास्टरजी ने बताया है कि वह "उचित दाम" का नारा "समूची किसान आबादी" के समक्ष दे रहे हैं। इनके अनुसार किसान आबादी फिलहाल बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग के खिलाफ़ एकजुट है और उनके द्वारा "खरीद की गारण्टी"(!) की मांग उन्हें बुर्जुआ राज्य के खिलाफ़ खड़ा कर देती है।

"...it will bring them not only in acute confrontation with the bourgeois state but also bring them in the imagination of a state that can give such a guarantee if it is brought to their notice by the proletarian forces. "(Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

यानी दोन किहोते कहते हैं कि "समूची किसान आबादी", जिसमें धनी किसान और कुलक वर्ग भी शामिल हैं, को "उचित दाम" के नारा देकर हम एकजुट कर सकते हैं। **जब कुलक और धनी किसान खुद ही ग़रीब किसान और निम्न मंझोले किसानों को अपनी मुनाफ़ाखोरी की मांग पर गोलबन्द और संगठित करने में नाकाम सिद्ध हो चुके हैं, तो उनके तारणहार बन कर *माटसाब* जा रहे हैं! सम्भवत: वह राय देंगे कि ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को जबरन घसीटकर सिंघू बॉर्डर व टीकरी बॉर्डर लाने के लिए धनी किसानों-कुलकों की पंचायतों द्वारा लगाया जाने वाला जुर्माना बढ़ा देना चाहिए!** धनी किसानों-कुलकों और दूसरी ओर ग़रीब मेहनतकश किसानों व मज़दूरों में "एकता" कायम करने का और कोई रास्ता भी सम्भव नहीं है। इसीलिए कहा जाता है कि मालिक जितनी ज़ोर से भौंकता है, उसका कुत्ता उससे ज़्यादा ज़ोर से भौंकता है!

आगे *माटसाब* कहते हैं:

"They take us to task for we called upon the agitating peasants as a whole to choose to go for rejecting bourgeois rule and accordingly push forward for a unity with the revolutionary proletariat whose aim is to fight for a proletarian state as only such a state would be able to give them guarantee of purchase of all of their produce at appropriate prices and also provide them a decent and dignified life without indulging in exploitation of other's labour or without ruining others in the race of better life." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

इसके बाद इसे ही यह जनाब इतिहास के एक सूत्र की तरह पेश करते हैं कि क्रान्ति के 'पहले दौर' में "समूची किसान आबादी" को साथ लिया जा सकता है और बाद में क्रान्ति के 'दूसरे दौर' गांवों में वर्ग संघर्ष की शरूआत से किया जाएगा।

"...in a special case when the whole peasantry is stirred against a common enemy, a proletarian revolution can be carried out to secure power for he proletariat in the cities by overthrowing the bourgeoisie from power even without stirring and waging class struggle in the countryside for the time being, which can be started after attaining power as the second phase of the proletarian revolution." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

यानी "उचित दाम" का नारा क्रान्ति के 'पहले दौर' का नारा है, जिसके ज़रिये समूची किसान आबादी को साथ लेना है! लेकिन हमने ऊपर देखा कि अब मास्टरजी यह कह रहे हैं कि "उचित दाम" के नारे की बात उन्होंने सामूहिक खेती के दौर के सन्दर्भ में की थी! यह क्या गड़बड़झाला है भाई! हमारे मास्टरजी चौर्य लेखन में भी रंगे हाथों पकड़े जाते हैं और झूठ बोलने में भी पकड़ में आ जाते है! और झूठ बोलने के साथ समस्या यह होती है, कि आप भूल जाते हैं कि आपने कब-कब क्या-क्या झूठ बोले थे।

नतीजतन, बाद में जिस प्रकार शरारती बिल्ला ऊन के गोले में उलझ जाता है, वैसे ही यह बौद्धिक बौना भी अपने ही झूठों-लफ्फाजियों के गोले में उलझ गया है! मनोरंजक दृश्य है!

हम पहले ही देख चुके हैं कि *माटसाब* उन चीज़ों को आकाशवाणी समान सत्य मानकर प्रस्थान करते हैं, जिन्हें उनको साबित करना है। **मिसाल के तौर पर, समूची फसल खरीद गारण्टी की कोई मांग धनी किसान-कुलक नहीं कर रहे हैं क्योंकि यह एक पूंजीपति के रूप में उनकी आज़ादी को बाधित करेगा, वे केवल लाभकारी मूल्य के रूप में एक *फ्लोर लेवल* की मांग कर रहे हैं, ताकि उन्हें कम-से-कम उतना दाम मिले जो कि बेशी मुनाफे को सुनिश्चित करता है। वे इस *फ्लोर लेवल* से ऊपर निजी खरीदारों को बेचने के लिए सहर्ष तैयार हैं और अभी हाल ही में उन्होंने निजी ख़रीदारों को लाभकारी मूल्य से ऊपर दाम पर अपनी उपज बड़े पैमाने पर और कई जगह बेची भी है।** मूर्खेश असीम और पीआरसी के दोन किहोते तथ्यों को ढूंढ नहीं पाते, तो तंत्र विद्या से अपने लेख में पैदा करने पर आमादा हो जाते हैं।

दूसरी बात, पूरी किसान आबादी मौजूदा आन्दोलन में एकजुट नहीं है और अगर इसे एकजुट करने के प्रयास में भागते-भागते दोन किहोते और और अपनी कुर्सी तोड़ते-तोड़ते मूर्खेश असीम की हवा भी निकल जाए, तो भी वह एकजुट नहीं हो सकती क्योंकि एक चीज़ होती है जिसे "वर्ग" के नाम से जाना जाता है। इनके वर्ग हित समान नहीं है बल्कि परस्पर विरोधी हैं। ग़रीब, सीमान्त व निम्न मंझोले किसानों के हित लाभकारी मूल्य की मांग में अभिव्यक्त ही नहीं होते हैं, उनकी वर्ग मांगें ही अलग हैं और उनके जनसमुदायों का बड़ा हिस्सा भी इस बात को समझता है। उनके वर्ग हित खेतिहर मज़दूर वर्ग समेत समूचे मज़दूर वर्ग के वर्ग हितों के निकट पड़ते हैं।

आखिरी बात, "उचित दाम" का अपना अस्पष्ट नारा *माटसाब* इस बार भी स्पष्ट नहीं करते हैं क्योंकि जनाब बुरी तरह से फंस गये हैं। वह यह मानने को भी मजबूर हो गये हैं कि यह एक 'ट्रिब्यूट' है (हालांकि, साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों के शोषण से इसकी तुलना करके एक बार फिर इन्होंने दिखला दिया है कि इस 'ट्रिब्यूट' को वह समझते नहीं हैं क्योंकि यह बेशी मुनाफा, एक प्रकार का इजारेदार लगान (monopoly rent) है, न कि औपनिवेशिक लूट के समान आदिम संचय का कोई रूप)। ऐसे में, वह फिर यह बताने से दुम दबाकर भागते हैं कि उनका "उचित दाम'' क्या है, क्या यह लाभकारी मूल्य ही है, या कुछ और। लेकिन फिर भी यदि पाठक इनके मूर्खतापूर्ण तीनों लेखों को पढ़े तो समझ जाएगा कि *माटसाब* का "उचित दाम" दरअसल लाभकारी मूल्य ही है, क्योंकि इस मूर्ख को लगता है कि सोवियत संघ में भी सामूहिक फार्मों को लागत से 30-40 प्रतिशत ऊपर लाभकारी मूल्य दिया जाता था! **ऐसे राजनीतिक रूप से अनपढ़ और मूर्ख बौद्धिक बौने के बारे में क्या कहा जा सकता है?**

“समाजवाद में श्रमशक्ति माल होती है” बोलकर मास्टरजी मुकर ही रहे थे कि फिर समाजवाद में श्रमशक्ति को फिर से माल बोल बैठे!

अपने पिछले लेख में मास्टरजी समाजवादी समाज में श्रमशक्ति को माल बता कर अब मौजूदा लेख में इस बात से मुकर जाते हैं। हमने उन्हें ही उद्धृत करते हुए लिखा था:

"पीआरसी के लेखक महोदय के अनुसार श्रमशक्ति समाजवादी समाज में एक माल होती है! लेखक जी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बारे में अपने ज्ञान के मोती बिखेरते हुए बताते हैं कि सामूहिक फार्मों को कृषि उपज पर ऊंची कीमत देने का कारण यह था कि वहाँ फसलों का दाम श्रमशक्ति के मूल्य और लागत द्वारा निर्धारित किया जा रहा था। देखें, वह क्या लिखते हैं:

‘‘In the USSR it is true that what the proletarian state paid as procurement price (which was above the cost) was mainly based on calculation of social labour. What does it mean? It means that procurement price the collective farms got from the state contained cost plus the *value of collective peasants’ own labour power*. Hence what was paid above cost by the Soviet State was equal (in money for or in kind) to the value of the *peasants’ own labour*

power. And hence we can conclude that a Soviet collective farm peasant was paid above cost but what was above the cost can be considered to be the *value of his own labour power*. The 'educators' say that the price that collective farm peasant got from the state was *in the main* based on calculation of social labour. What is that other (*in the main)* than social labour that comes in the calculation while paying the farmers for their produce? Our educators are silent on this.'' (*What the new apologists of corporates are and how they fight against the revolutionaries*, The Truth, Issue 11)" (सनी, **धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग**)

हम देख सकते हैं कि मास्टरजी यहाँ कह रहे हैं कि सामूहिक फार्म के किसानों को लागत के ऊपर जो भुगतान होता था वह उनकी श्रमशक्ति का मूल्य था; मतलब यह कि श्रमशक्ति उस दौर में भी माल थी। लेकिन अब वह पैंतरापलट करते हुए कहते हैं कि

"What I want to prove here is that in socialism, labour power is not sold or bought it is true but its value remains in existence."

यह कथन ही अपने आप में ग़लत है। **अगर श्रमशक्ति का मूल्य होता है तो उसका यही मतलब है कि वह माल है। क्योंकि किसी वस्तु के मूल्य के निर्धारण का प्रश्न ही तब उठता है, जबकि उसका विनिमय लक्षित हो। यदि *माटसाब* के अनुसार सोवियत समाजवादी संक्रमण में श्रमशक्ति का मूल्य महज़ आकलित भी होता था तो निश्चित तौर पर यह माल ही थी। उसका विनिमय होने का यह अर्थ पूंजीवाद में भी नहीं होता है कि मज़दूर एक झोले में रखकर अपनी श्रमशक्ति पूंजीपति को बेच रहा हो; पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में भी श्रमशक्ति के मूल्य का आकलन ही होता है और उसके अनुसार भुगतान होता है। यही श्रमशक्ति का विनिमय है और यही श्रमशक्ति का माल होना है। अगर *माटसाब* ने दूसरी कक्षा के किसी बौड़म बच्चे के समान यह कल्पना की थी कि श्रमशक्ति के विनिमय होने का अर्थ यह है कि उसे किसी पोटली में रखकर एक हाथ से दूसरे हाथ में स्थानान्तरित किया जाता है, तो कहना पड़ेगा कि रंगनायकम्मा की पुस्तक "बच्चों के लिए अर्थशास्त्र" भी उनके बहुत काम नहीं आएगी, या उसे समझने में उन्हें मूर्खेश असीम की सहायता लेनी पड़ेगी, हालांकि उसके बाद किस प्रकार का आतंकवादी नतीजा सामने आ सकता है, इसके बारे में हम अभी कुछ अटकलें ही लगा सकते हैं। ग़ज़ब मूर्ख व्यक्ति है यह!**

एक बार ही इस व्यक्ति को ढंग से समझ लेना चाहिए: समाजवादी संक्रमण के दौरान श्रमशक्ति के मूल्य का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही उसके आकलन का प्रश्न उठता है क्योंकि मूल्य के आकलन (quantification) की आवश्यकता ही केवल और केवल विनिमय के लिए होती है। समाजवादी संक्रमण में किसी भी माल (खेती की उपज समेत) के मूल्य का आकलन सामाजिक श्रम के परिमाण के आकलन से होता है, उसमें श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी वजह से समाजवादी संक्रमण में वस्तुएं माल होती हैं, माल उत्पादन होता है, लेकिन श्रमशक्ति माल नहीं होती है, मज़दूरी श्रमशक्ति के दाम का रूप नहीं रह जाती है। यह सब एकदम बुनियादी बातें हैं, जिसके बारे में इस मूर्ख को पता ही नहीं है और ईमानदारी से अपनी ग़लती स्वीकार करने की बजाय, कठदलीली और गलदोदई करके और गहरे फंसता जा रहा है।

यह शख्स एक मूर्खता को ढंकने के प्रयास में न जाने कितनी और मूर्खताएं करेगा! हालांकि मास्टरजी ने पिछली बार यही बोला था मज़दूर व सामूहिक किसान को श्रमशक्ति के मूल्य का भुगतान होता है और अब यह जनाब इस पुरानी मूर्खता को इस नयी मूर्खता के पीछे छिपाने की कोशिश कर रहे हैं कि उन्होंने यह कहा था कि समाजवाद में श्रमशक्ति के मूल्य की गणना होती है। इसके लिए *दोन किहोते दि ला पटना* ने मार्क्स द्वारा पूंजीवाद में एक स्वतंत्र माल उत्पादक द्वारा अपनी खर्च होने वाली भौतिक श्रमशक्ति की भरपाई की चर्चा का उद्धरण पेश किया है:

"It will also remain in calculation so long as commodities with which labour power expended is compensated are exchanged according to their values (remember here that machines producing machines or the higher forms of

means of production no longer remain as commodities except in case of a foreign trade) or on the basis of law of value. Our apologists in a hurry to demolish us have picked up a wrong weapon which backfires and will shoot them down only. They thought that in socialism because labour power is not exchanged i.e. sold and brought as all other commodities, hence it will also become valueless and it won't come in calculation even when the commodities that compensate expended the labour power are still exchanged at their values. If a worker labours without being sold to a capitalist, will the value of labour power vanishes or not arise. Let us hear Marx on this – "If instead of working for the capitalist, he worked independently on his own account, he would, other things being equal, still be obliged to labour for the same number of hours, in order to produce the value of his labour-power, and thereby to gain the means of subsistence necessary for his conservation or continued reproduction." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth', Issue- 12)

सबसे पहली बात तो यह है कि मार्क्स यहां पूंजीवादी समाज में स्वतंत्र माल उत्पादक का एक *हाइपोथेटिकल* उदाहरण देते हुए यह समझा रहे हैं कि उसे भी अपनी श्रमशक्ति के भौतिक पुनरुत्पादन योग्य श्रम करना होगा, मार्क्स के लिए, जिसका मकसद है आगे **आवश्यक और अतिरिक्त श्रम** के विषय में समझाना जो कि मज़दूर एक पूंजीपति को अपनी श्रमशक्ति बेचने के बाद करता है। मार्क्स यह भी बताते हैं कि श्रम का विशिष्ट सामाजिक रूप कुछ भी हो, श्रमशक्ति का भौतिक पुनरुत्पादन और उसके लिए ज़रूरी श्रम अनिवार्य होता है। पूरा उद्धरण यह है:

"We have seen that the labourer, during one portion of the labour-process, produces only the value of his labour-power, that is, the value of his means of subsistence. Now since his work forms part of a system, based on the social division of labour, he does not directly produce the actual necessaries which he himself consumes; he produces instead a particular commodity, yarn for example, whose value is equal to the value of those necessaries or of the money with which they can be bought. The portion of his day痴 labour devoted to this purpose, will be greater or less, in proportion to the value of the necessaries that he daily requires on an average, or, what amounts to the same thing, in proportion to the labour-time required on an average to produce them. If the value of those necessaries represent on an average the expenditure of six hours • labour, the workman must on an average work for six hours to produce that value. If instead of working for the capitalist, he worked independently on his own account, he would, other things being equal, still be obliged to labour for the same number of hours, in order to produce the value of his labour-power, and thereby to gain the means of subsistence necessary for his **conservation or continued reproduction.** But as we have seen, during that portion of his day痴 labour in which he produces the value of his labour-power, say three shillings, he produces only an equivalent for the value of **his labour-power already advanced by the capitalist;** the new value created only replaces the variable capital advanced. It is owing to this fact, that the production of the new value of three shillings takes the semblance of a mere reproduction. **That portion of the working-day, then, during which this reproduction takes place, I call 党*necessary* • labour time, and the labour expended during that time I call 党*necessary* • labour. Necessary, as regards the labourer, because independent of the particular social form of his labour; necessary, as regards capital, and the world of capitalists, because on the continued existence of the labourer depends their existence also." (Marx, Capital, Volume 1)**

जैसा कि आप देख सकते हैं कि मास्टरजी को श्रमशक्ति के भौतिक और सामाजिक अर्थ के बारे में कोई ज्ञान नहीं है और वह भौतिक तौर पर ख़र्च होने वाली श्रमशक्ति की भरपाई के प्रश्न को उसके मूल्य के आकलन के प्रश्न से गड्डमड्ड कर रहे हैं क्योंकि मार्क्स के *हाइपोथेटिकल*

उदाहरण को माटसाब समझ ही नहीं पाए है। दूसरे शब्दों में, वे उपयोग मूल्य और मूल्य का अन्तर नहीं समझते हैं। यह महानुभाव यदि किसी व्यक्ति को मार्क्सवाद के बारे में बताते हुए पाए जाएँ तो हमारी जनहित में जारी अपील है कि उस बेचारे 'अनसस्पेक्टिंग' व्यक्ति को इनके प्रकोप से बचाया जाना चाहिए! हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि मार्क्स के उपरोक्त समूचे उद्धरण को पढ़ें। यहां मार्क्स अनिवार्य और अतिरिक्त श्रमकाल की अपनी परिभाषा को समझा रहे है और बता रहे हैं कि यदि उत्पादक स्वतंत्र माल उत्पादक है, तो भी उसे अपने जीविकोपार्जन योग्य उत्पादन करने योग्य श्रम करना होगा, जो कि **भौतिक तौर पर उसकी खर्च होने वाली श्रमशक्ति की भरपाई करे। श्रमशक्ति पूंजीवाद में पैदा नहीं होती है, बल्कि वह एक माल पूंजीवाद में बनती है। श्रमशक्ति माल केवल तभी बनती है, जब उत्पादक अपने उत्पादन के साधनों से वंचित हो जाता है और उसे किसी पूंजीपति के लिए काम करना होता है। क्योंकि श्रम और उत्पादन की स्थितियां (conditions of production) के बीच अलगाव हो जाता है।**

यहां मार्क्स बता रहे हैं कि एक स्वतंत्र माल उत्पादक को भी उतना श्रम करना ही होगा, जिससे कि वह अपने जीवन (श्रमशक्ति) का *भौतिक तौर पर* पुनरुत्पादन कर सके। लेकिन जब तक वह अपनी श्रमशक्ति किसी पूंजीपति को नहीं बेचता, तब तक आवश्यक श्रमकाल और अतिरिक्त श्रमकाल का भेद ही पैदा नहीं हो सकता है क्योंकि उसकी श्रमशक्ति अभी माल नहीं बनी है और न ही उसके मूल्य के आकलन का कोई प्रश्न पैदा हो सकता है। मास्टरजी को यह बुनियादी बात नहीं समझ आती है कि जब उत्पादक का उत्पादन के साधनों से अलगाव नहीं हुआ होता है, तो उसकी श्रमशक्ति माल नहीं होती है और न ही उसके मूल्य के आकलन का सवाल पैदा होता है। साथ ही, जब समाजवादी संक्रमण के दौरान पूंजीपतियों द्वारा उत्पादन के साधनों की इजारेदारी समाप्त हो जाती है, तो फिर से मज़दूर की श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है और उसके मूल्य के आकलन का प्रश्न भी नहीं उठता है। **उपरोक्त उद्धरण में मार्क्स कुछ ऐसा नहीं कह रहे हैं कि स्वतंत्र माल उत्पादक की श्रमशक्ति माल है और उसके मूल्य का आकलन करना है, बल्कि यह कह रहे हैं कि भौतिक तौर पर श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन या भरपाई हर सामाजिक व्यवस्था में अनिवार्य होती है, यानी महज़ इतना बता रहे हैं कि एक स्वतंत्र माल उत्पादक को भी उतना श्रम करना अनिवार्य है, जो उसकी श्रमशक्ति के भौतिक तौर पर पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक हो।**

आगे मास्टरजी स्तालिन के उद्धरण के साथ दुराचार करते हैं और कहते हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य

"...will also remain in calculation so long as commodities with which labour power expended is compensated are exchanged according to their values (remember here that machines producing machines or the higher forms of means of production no longer remain as commodities except in case of a foreign trade) or on the basis of law of value.

"The value of labour power go into calculation, though not directly but indirectly via commodities that are used to compensate the expended labour." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth', Issue-(12)

वह यह ग़लत नतीजा *माटसाब* स्तालिन के निम्नलिखित सही कथन से निकालते हैं और अपने उपरोक्त भ्रम के कारण ही यह ग़लत नतीजा निकालते हैं, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, यानी श्रमशक्ति के भौतिक और सामाजिक अर्थ में अन्तर न करना, उपयोग-मूल्य और मूल्य में अन्तर न करना:

"As a matter of fact, consumer goods, which are needed to ***compensate the labour power expended*** in the process of production, are produced and realized in our country as commodities coming under the operation of the law of value. It is precisely here that the law of value exercises its influence on production."

नहीं मूर्खाधीश! इससे यह नतीजा नहीं निकलता है। ऊपर ही हमने दिखालाया था कि या तो मास्टरजी को जटिल वाक्य पढ़ने में दिक्कत होती

है या इन्हें लगता है कि यह इनको अपने हिसाब से तोड़-मरोड़ कर पेश कर सकते हैं क्योंकि अन्य लोग भी इसे नहीं समझ पाएंगे।

यहां स्तालिन दो बातें कह रहे हैं। एक यह कि उपभोग वस्तु माल होती हैं जो कि मूल्य के नियम के अंतर्गत ही आती हैं और उनका मूल्य उनमें लगे सामाजिक श्रमकाल से ही निर्धारित होता है, और इस तरह उत्पादन की प्रक्रिया पर मूल्य का नियम अपना प्रभाव छोड़ता है। दूसरी बात स्तालिन यह कहते हैं कि उपभोग की वस्तु **भौतिक तौर पर खर्च होने वाली श्रमशक्ति को पुनरुत्पादित करती है।** यहां पर श्रमशक्ति की भौतिक अर्थ में बात की गयी है, यानी कि श्रम करने की क्षमता के पुनरुत्पादन की, जोकि उपभोग की वस्तुओं द्वारा होता है। उत्पादन में श्रमशक्ति (यानी श्रम करने की क्षमता) खर्च होती है और उपभोग की वस्तुओं के ज़रिये इस श्रम करने की क्षमता को पुन: पैदा किया जाता है। **स्तालिन यहां महज़ इतना ही कह रहे हैं। कोई मूर्ख ही इसका यह मतलब निकालेगा कि यहां श्रमशक्ति के मूल्य के निर्धारण की बात हो रही है। श्रमशक्ति जब एक माल रह ही नहीं गयी, तो उसके मूल्य के निर्धारण का प्रश्न ही मूर्खतापूर्ण है।**

साथ ही, श्रमशक्ति जब माल नहीं रह जाती है, यानी एक पूंजीवादी आर्थिक व सामाजिक श्रेणी के रूप में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है, तब भी एक भौतिक श्रेणी के रूप में वह समाप्त नहीं हो जाती है। स्तालिन उपरोक्त उद्धरण में वास्तव में यही बता रहे हैं कि वस्तुओं के मूल्य के निर्धारण में उसमें ख़र्च होने वाली श्रमशक्ति के मूल्य की कोई भूमिका नहीं है, बल्कि उनका मूल्य उनके उत्पादन में लगने वाले सामाजिक श्रमकाल से निर्धारित होता है। श्रमशक्ति माल नहीं रह गयी, इसका यह अर्थ नहीं होता है कि श्रमशक्ति ही समाप्त हो गयी और उसके पुनरुत्पादन की आवश्यकता समाप्त हो गयी। मार्क्स लिखते हैं:

"On the one hand, all labour is, **speaking physiologically, *an expenditure of human labour-power*** and in its character of identical abstract human labour, it creates and forms *the value of commodities*. On the other hand, all labour is the expenditure of human labour-power in a special form and with a definite aim, and in this, its character of **concrete useful labour**, it produces **use-values**." (Marx, Capital, vol. I)

भौतिक अर्थों में श्रमशक्ति उत्पादन में खर्च होती है, उसका खर्च होना ही जीवित मूर्त और अमूर्त मानवीय श्रम है, जो माल उत्पादन की परिस्थितियों में उपयोग मूल्य के साथ मूल्य पैदा करता है। दूसरे अर्थों में श्रमशक्ति एक उपयोग-मूल्य भी है, जिसका उपयोग/खर्च हमें जीवित श्रम देता है। लेकिन उपयोग-मूल्य होने की वजह से ही वह माल नहीं होती है। वह माल पूंजीवादी व्यवस्था में ही बनती है, जब उत्पादन की स्थितियों से उसका अलगाव हो जाता है। **हर सामाजिक उत्पादन व्यवस्था में श्रमशक्ति इस भौतिक अर्थ में उत्पादन करती है और उस प्रक्रिया में एक उपयोग-मूल्य के रूप में ख़र्च होती है और उसका भौतिक पुनरुत्पादन किया जाना अनिवार्य होता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हर सामाजिक उत्पादन व्यवस्था में श्रमशक्ति स्वयं माल है। यदि श्रमशक्ति माल नहीं है, तो उसके मूल्य के आकलन का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। क्योंकि मूल्य के आकलन की आवश्यकता ही विनिमय हेतु होती है। विनिमय ही मूल्य पैदा नहीं करता है, लेकिन मूल्य के आकलन की आवश्यकता विनिमय से ही पैदा होती है।** जब तक किसी वस्तु का विनिमय नहीं होता तब तक उसके मूल्य के आकलन का सवाल ही ग़ैर-सवाल (non-question) होता है।

समाजवादी संक्रमण के दौरान वस्तुओं के मूल्य के आकलन के लिए उसमें ख़र्च हुई श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन का कोई प्रश्न ही नहीं होता है। लेकिन खर्च होने वाली श्रमशक्ति की भौतिक तौर पर भरपाई का प्रश्न फिर भी होता है। उत्पादन की प्रक्रिया के दो पहलुओं को *माटसाब* समझ नहीं पाते हैं: एक मूल्य का पहलू (जो कि सामाजिक सम्बन्धों का प्रश्न है) और दूसरा भौतिक पहलू (जो कि किसी भी सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था में मौजूद रहता है)। मिसाल के तौर पर, वस्तुएं उपयोग-मूल्य के तौर पर साम्यवाद में भी कायम रहेंगी, जो कि उनका भौतिक पहलू है, लेकिन मूल्य के रूप में नहीं, जो कि विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों (माल उत्पादन) पर आधारित होता है। और चूंकि वे भौतिक तौर पर ख़र्च भी होंगी, इसलिए उनकी भौतिक तौर पर भरपाई भी करनी होगी।

स्तालिन के उद्धरण में उपभोक्ता वस्तुओं द्वारा भौतिक अर्थों में खर्च होने वाली श्रमशक्ति की भरपाई या पुनरुत्पादन यानी उन्हें *कम्पन्सेट* करने की बात है, न कि श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन की बात। मालों के मूल्य में श्रमशक्ति के मूल्य के शामिल होने की यहां

कोई बात नहीं हो रही है। समाजवादी संक्रमण के दौरान श्रमशक्ति के सम्बन्ध में मूल्य का नियम कार्य करना बन्द कर चुका होता है, यानी श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन की कोई आवश्यकता ही नहीं होती है क्योंकि वह माल नहीं रह गई है। सोवियत संघ से प्रकाशित राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक, जिसे स्तालिन के दौर में ही तैयार किया गया था, में बिल्कुल सही लिखा है:

"The **operation of the law of value in relation to labour-power ceases in the socialist sector.** Instead there emerges and begins to operate, on the basis of the new relations of production, **the law of distribution according to work, in accordance with which each worker must be paid according to the amount of labour he has expended."**

यह पुस्तक आगे बताती है:

"In socialist society power is in the hands of the working people, headed by the working class. They own the means of production. The labour-power used in socialist enterprises is not a commodity, since the working people who own the means of production, cannot sell their labour-power to themselves."

लेकिन भौतिक तौर पर श्रमशक्ति (श्रम करने की क्षमता) के पुनरुत्पादन का प्रश्न हर सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के लिए एक अनिवार्य प्रश्न होता है, समाजवाद के लिए भी। इसका यह अर्थ नहीं है श्रमशक्ति माल होती है और उसके मूल्य के आकलन की कोई आवश्यकता होती है। उपरोक्त पुस्तक ही बताती है:

"With the abolition of the capitalist mode of production, those economic laws of capitalism also lose their validity which limit the personal property and personal consumption of the masses of the people to the minimum of essential products **required for *the maintenance and reproduction of labour-power.*"**

यही पुस्तक बताती है कि श्रमशक्ति के सन्दर्भ में मूल्य का नियम अप्रासंगिक हो चुका होता है क्योंकि **उसके मूल्य का आकलन ही अब अप्रासंगिक हो चुका है**:

"With the abolition of the system of hired labour, **the law of value of labour-power has completely lost its validity as the regulator of wages."**

लेकिन अन्य मालों के मूल्य पर मूल्य का नियम लागू होता है और उसके अनुसार ही उनका मूल्य निर्धारित होता है: यानी उसमें लगने वाले सामाजिक श्रम के अनुसार। मज़दूरों की मज़दूरी श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन पर आधारित नहीं होती और *न ही सामूहिक फार्मर की आय में उसकी श्रमशक्ति के मूल्य का आकलन शामिल होता है*, क्योंकि श्रमशक्ति अब माल नहीं रह गयी है। देखें उपरोक्त पुस्तक क्या कहती है:

"The State lays down in advance fixed wage-scales for a unit of product or **of working time**. Since the collective farmer is a member of an artel, which is group property, he receives the share of the income due to him in the form of payment **for labour-days**, out of the funds of his collective farm. The size of this income depends on both the degree of participation of the collective farmer **in social labour**, which is expressed **in the number of labour-days** which he has worked, and also on the level of labour productivity and degree of development of the socially-owned economy of the collective farm, which is expressed **in the size of payment for each labour-day.**"

समाजवादी समाज में मालों के मूल्य के निर्धारण में उसमें खर्च होने वाली श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन की कोई भूमिका नहीं होती है, बल्कि केवल उसमें खर्च होने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा की ही भूमिका होती है। देखें, उपरोक्त पाठ्यपुस्तक क्या कहती है:

"**The magnitude of the value of commodities produced and realised in socialist economy is determined by the quantity of socially-necessary labour-time expended on producing them. Socially-necessary labour-time means the average labour-time expended by the enterprises which produce the bulk of output in the branch concerned.**

"The socially-necessary time is a quantity which has an objective existence. The socially-necessary labour-time expended on producing a unit of a commodity determines the social value of the commodity."

संक्षेप में, **मास्टरजी श्रमशक्ति के भौतिक अस्तित्व और माल के रूप में उसके सामाजिक अस्तित्व के बीच भ्रमित हो जाते हैं, वह उसके उपयोग-मूल्य के रूप में अस्तित्व (जो कि हर सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रासंगिक है) और मूल्य के रूप में उसके अस्तित्व (जो कि केवल पूंजीवादी व्यवस्था के लिए प्रासंगिक है) के बीच बुरी तरह से कन्फ्यूज़ हो गये हैं। यह दरअसल राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला न समझने के समान है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है, कोई भौतिक वस्तु नहीं। जब तक दो पक्षों में विनिमय की आवश्यकता नहीं होती, तब तक मूल्य के आकलन का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह दो पक्षों के बीच का सामाजिक सम्बन्ध है, जो कि इसके आकलन को निर्धारित करता है। मास्टरजी को यही बात समझ में नहीं आती है, इसलिए स्तालिन के उद्धरण को भी वह समझ नहीं पाए हैं। हमने पहले भी कहा था कि इस बौद्धिक बौने को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के 'क ख ग' को किसी की सहायता से पेंसिल टिका-टिकाकर पढ़ने की आवश्यकता है।**

इतना गुलगपाड़ा मचाने के बाद अंत में मास्टरजी फिर यह दोहरा देते हैं कि मज़दूरों को श्रमशक्ति के मूल्य का भुगतान होता है, जबकि ऊपर हम देख चुके हैं कि मज़दूरों को श्रमशक्ति के मूल्य के अनुसार भुगतान नहीं होता है, बल्कि उनके द्वारा किये गये सामाजिक श्रम के अनुसार भुगतान होता है, जिसे कि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से मापा जाता है! यह समाजवादी संक्रमण के दौरान मज़दूरी का स्वरूप होता है। लेकिन यह बौद्धिक बौना क्या लिखता है, देखें:

"So, it is only necessary labour that belongs to him (a worker) under capitalism. What happens under socialism, as we have mentioned above, too is that Under socialism, the total labour belongs to him, either directly or indirectly. When directly, his **wages i.e. the value of his labour power** increases which will get reflected" (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth, Issue-12)

यानी मास्टरजी के अनुसार मज़दूरों को समाजवादी संक्रमण के दौरान जो उजरत मिलती थी वह उनकी श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर मिलती थी! यानी वह खरीदी-बेची जाती थी! थोड़ी देर पहले यह महाशय बिलकुल इसके उलट बात बोल रहे थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन का प्रश्न ही समाजवादी संक्रमण में अप्रासंगिक हो जाता है और वह माल नहीं रह जाती है। समाजवादी संक्रमण में मज़दूरी का श्रमशक्ति के मूल्य से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता है। देखें, उपरोक्त पाठ्यपुस्तक क्या कहती है:

"Wages in socialist economy are by their very nature quite different from wages under capitalism. **Since labour-power has ceased to be a commodity in socialist society, wages are no longer the price of labour-power."**

और देखें:

“Thus, wages in socialist economy are the monetary expression of the worker’s share in that portion of the social product which is paid out by the State to workers by hand or brain in accordance with the **quantity and quality of each worker’s labour.**”

मज़दूरी या माल के मूल्य के आकलन के लिए केवल सामाजिक श्रम की मात्रा की भूमिका रह जाती है। श्रमशक्ति के मूल्य की श्रेणी श्रमशक्ति के एक माल के रूप में समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाती है, हालांकि श्रमशक्ति भौतिक तौर पर समाप्त नहीं हो जाती है और न ही भौतिक तौर पर खर्च होने वाली श्रमशक्ति को 'कम्पन्सेट' करने की आवश्यकता समाप्त होती है, जिसकी बात स्तालिन कह रहे थे, तो *माटसाब* कुछ और ही समझ बैठे! देखिये यह पाठ्यपुस्तक क्या कहती है:

"As a result of the replacement of the old bourgeois production-relations by socialist production-relations, the economic laws of capitalism, expressing relations based on the exploitation of man by man, cease to operate. The law of surplus-value, the basic economic law of modern capitalism, disappears from the’ scene. The general law of capitalist accumulation, the law of competition and anarchy of production, together with other laws, also disappear. **The categories which express capitalist relations cease to exist: capital, surplus-value, capitalist profit price of production, wage-labour, the value of labour-power, etc."**

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि चूंकि समाजवादी संक्रमण के दौरान श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है, इसलिए न सिर्फ उसके माल होने की कोई बात नहीं की जा सकती है बल्कि उसके मूल्य की भी कोई बात नहीं की जा सकती है और न ही उसके आकलन का कोई सवाल उठता है।

आप देख सकते हैं कि पटना के दोन किहोते को मार्क्सवाद की बिलकुल बुनियादी स्तर तक की भी कोई समझदारी नहीं है। यह महाशय किसी "कम्युनिस्ट संगठन" के नेतृत्व की ओर से जवाब दे रहे हैं, यह और भी दुर्भाग्य की बात है और असली अफ़सोस होता है इस बौद्धिक बौने के भूतपूर्व कोचिंग सेण्टर-जो-अब-"संगठन"-कहलाता-है के युवा छात्रों के लिए जो ऐसे बौने बौद्धिक बहुरूपिये के चक्कर में मूर्ख बन रहे हैं।

बिकवाली दाम, प्राप्ति दाम, कोलखोज़ बाज़ार और मास्टरजी के दिमाग़ के कबूतरखाने में फंसे अंकगणित के खरें

सबसे पहले बिकवाली दाम की ही बात कर लेते हैं क्योंकि यहां पर हमारे मास्टरजी कोचिंग सेंटर में लम्बे समय तक पढ़ाते रहने से हुए ठस दिमाग़ की अपनी असली शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। मास्टरजी कहते हैं कि:

"In the first instalment of their criticism of PRC on the question of appropriate prices, they had written that the procurement prices were little above the cost. Now in the second instalment of their criticism, they speak in another language. The procurement price that was little above the cost has now become very little or low price." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! ‘The Truth’, Issue- 12)

क्या यह महोदय लागत और कीमत में अन्तर नहीं जानते हैं? लागत के ऊपर बेहद कम कीमत और कम कीमत एक दूसरे के विरोधी कैसे हैं? हमने पहले ही कहा है कि मास्टरजी ने अंकगणित के कुछ सूत्र अपने दिमाग़ के कबूतरखाने में घुसा रखे हैं और साथ ही उन्हें दो अलग आर्थिक प्रवर्गों का अर्थ भी ठीक से नहीं पता है।

आगे वह पुन: यह साबित कर देते हैं कि इन्हें बस आंकड़ों में कम और ज्यादा का अन्तर ही समझ आता है (हालांकि वह भी ठीक से समझ नहीं आता!) जबकि दो अलग श्रेणियों के बीच गुणात्मक अन्तर समझने में मास्टरजी के दिमाग़ की बत्ती गुल हो जाती है। वह कहते हैं:

“Maurice Dobb writes that the state purchase prices were considerably higher than the delivery prices and these people wishfully distorts it to be प्राप्ति दाम से कुछ जयादा (little more than procurement prices) (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! ‘The Truth’, 12)

असल बात यह है कि प्राप्ति दाम और बिकवाली दाम सोवियत सरकार द्वारा नियंत्रित होते थे जो कि कम और ज्यादा हो सकते थे और होते भी रहते थे। उनके बीच अन्तर होता था जो कि बदलता रहता था। हमारे द्वारा अपने लेख में यही स्पष्ट किया गया था कि इन दोनों के बीच अन्तर होता था लेकिन ऐसा नहीं था कि यह लागत से 40-50 प्रतिशत ऊपर मुनाफा देता हो, जैसा कि मास्टरजी को लगता है और जिसके लिए वह उपरोक्त वाक्य में ग़लती ढूंढने का निरर्थक प्रयास कर रहे हैं। सोवियत रूस से निकली राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुस्तक स्पष्ट करती है कि ज़रूरत के अनुसार प्राप्ति दाम और बिकवाली दाम घटते-बढ़ते रहते थे:

“As already mentioned, the law of value exercises through prices a regulating influence on the sphere of commodity circulation. In planning prices the Socialist State cannot but reckon with the operation of the law of value. It takes into account the value of the commodity, the state of supply and demand, the importance of the commodity for popular consumption, and **the need to use prices as an instrument in the redistribution of resources in the national economy.** For the majority of commodities all-Union retail prices, uniform for the whole country, are laid down. With a view to ensuring a greater taking into account of conditions of production and marketing, the State fixes for a number of commodities (mostly foodstuffs) zonal retail prices, which differ from district to district, and for a few it fixes seasonal retail prices. **State procurement and purchase prices differ from district to district, and for certain types of commodity also from season to season.**

“The systematic reduction of retail prices is one of the main means of raising the living standards of the mass of the people. The seven price reductions carried out since 1947 have considerably increased the purchasing power and real incomes of the working people in town and country. Price reductions are an important means of exerting planned influence on demand and are utilised as a means of increasing the consumption of particular products. Retail price reductions are based on reductions in production and. trading expenses as well as on the increasing volume of commodities made available by the State for sale to the population.

“As a result of the systematic reduction of State retail prices in the U.S.S.R., a quantity of commodities which cost 1,000 roubles in 1947 could be purchased for 433 roubles in 1954. In 1954 retail prices of bread and of butter were three times lower than at the end of 1947, meat nearly three times lower, and sugar 2.3 times lower. The targets laid down in the fifth Five-Year Plan for price reductions were fulfilled ahead of time. At the same time in the U.S.A., Great Britain, France, and the majority of other bourgeois countries prices of these commodities had considerably increased, compared with 1947.’’ (Soviet Textbook of Political Economy, CHAPTER XXXVI : TRADE IN SOCIALIST ECONOMY)

सच्चाई यह है कि राज्य द्वारा तय प्राप्ति दाम और उससे ऊपर निर्धारित बिकवाली/खरीद दाम, दोनों ही बाज़ार कीमतों से सामान्य रूप में नीचे ही रहते थे और दोनों ही किसी भी अर्थ में लागत से 30-40 प्रतिशत ऊंचा मुनाफा सुनिश्चित करने वाले लाभकारी

मूल्य नहीं थे। तुलना कोलखोज़ बाज़ार की बाज़ार स्थितियों से तय होने वाली कीमतों और दूसरी ओर प्राप्ति दाम और बिकवाली दाम में है। और प्राप्ति दाम और बिकवाली दाम किसी भी तौर पर लाभकारी मूल्य नहीं थे। प्राप्ति दाम तो एक प्रकार का कर था, जैसा कि मॉरिस डॉब ने बताया है, जोकि लागत पर नगण्य मुनाफा देता था; लेकिन बिकवाली दाम भी बाज़ार कीमतों से नीचे ही था। **अन्यथा उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती और सोवियत राज्यसत्ता भी कोलखोज़ बाज़ार से ही ख़रीद करती।**

समस्या यह है कि मास्टरजी कई विषयों के बारे में पहली बार हमारे लेख में ही पढ़ते हैं और कोचिंग संस्थान चलाने के चलते बिना जानकारी के बोलना उनकी आदत बन चुका है। आगे वह फिर झूठ बोलते हैं:

"इसके बाद जो उत्पाद बचता था उसे बिकवाली दाम पर (जो कि प्राप्ति दाम से कुछ ज़्यादा था) सरकार को और *कोलखोज बाज़ार, यानी कलेक्टिव फार्मों के खुले बाज़ार में बेचने के लिए सामूहिक किसान मुक्त थे और वहां कीमतों को* ***मुख्यत: बाज़ार की स्थितियां*** *निर्धारित करती थीं।* " (underline ours)

“What does it mean in the first place? In the very first place it means that state prices were subject to Market situations by which they ('apologists') seem to say that the role of state as the regulator of economy and market ceased to exists beyond fixed delivery quotas, so that the state purchase prices, which were based on voluntary contract well before the production and sowing, were also subject to market fluctuations." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! ‘The Truth’ Issue-12)

हमने पहले भी कई बार कहा है कि मास्टरजी को जटिल वाक्य समझ नहीं आते हैं या वह सभी को अपने सांचो पांज़ाओं सरीखा समझते हैं। आइए इस वाक्य को तोड़कर आसान बनाया जाय, ताकि मास्टरजी को समझ आ सके। **यहां यह कहा गया है कि प्राप्ति दाम पर उत्पाद के बिकने के बाद एक हिस्सा बिकवाली दाम पर सरकार को बेचा जाता था। *इसके बाद* बाकी बचा हुआ हिस्सा, कोलखोज़ बाज़ार में, सामूहिक फार्म के किसान बेचने के लिए आज़ाद थे। कोलखोज़ बाज़ार में कीमतें को बाज़ार की स्थितियां निर्धारित करती थीं। कोई सामान्य दिमाग़ वाला व्यक्ति जो कि 'मेण्टली रिटार्डेड' न हो, उपरोक्त वाक्य का यही मतलब निकाल सकता है।** लेकिन *माटसाब* की दिमाग़ी हालत पर कतई शक़ किया जा सकता है, जैसा कि पाठक अब तक समझ चुके होंगे।

ग़लतबयानी पकड़ने पर झूठ बोलने पर आमादा हुए मास्टरजी

मास्टरजी कहते हैं कि हमने पिछले लेख में यह कह तो दिया है कि उन्होंने हमारी अवस्थिति को तोड़ा-मरोड़ा पर हमने इसे साबित नहीं किया:

"Let us quickly see the quote given in the footnote on page 8 of The Truth issue no. 11 which they say PRC's author has quoted out of context.

“वह एक बहस में लिखते हैं, ”इस तरह की व्यवस्था (ठेका खेती) में भ्रष्टाचार के तत्व को छोड़ दें, तो हमें ऐसे कई मॉडल दिखते हैं, जहां…**किसानों को भी इससे लाभ हुआ।”** गरीब किसानों की बर्बादी को लेकर वह लिखते हैं कि ”बेशक, इस बर्बादी की दर और रफ़्तार में मात्रात्मक अन्तर होगा, **मगर यह कहना मुश्किल है यह पहले की तुलना में तेज़ या धीमी ही होगी...”** यानी, वह इस बात की संभावना के लिए जगह छोड़ दे रहे हैं कि कॉर्पोरेट इंट्री से बर्बादी की रफतार धीमी भी हो सकती है। और, इसीलिए वह मानते हैं और अपनी समझ के अनुसार ठीक ही मानते हैं कि गरीब किसानों के उजड़ने की रफ्तार के सवाल को ”क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक लाइन तय करने में” शामिल नहीं करना चाहिए। वह फिर एक जगह लिखते हैं – “लेकिन चूंकि पहले दो कृषि क़ानून एमएसपी व्यवस्था को ख़त्म करके, मुख्य रूप से, धनी किसानों और कुलकों को निशाना बनाते हैं, और उसके लिए “जमीन साफ करके” कॉरपोरेट पूंजी को फ़ायदा पहुंचाते हैं, इसलिए” इनका मानना है कि मजदूर वर्ग के द्वारा इस बिंदु पर कॉर्पोरेट का विरोध करने का कोई मतलब ही नहीं है।

“They have not responded to this. They simply couldn't. Instead they said it has been quoted out of context which is entirely wrong. Just having said that it is out of context they escaped without even talking of or mentioning the real context.

“May be, but why have you not mentioned the exact context you are talking about, dear 'apologists'? Your piece of writing (from where I have quoted) is with us and in front of me and I can say there can be no controversy on context." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! ‘The Truth’, Issue-12)

यहां *दोन किहोते दि ला पटना* पवनचक्कियों के पास जाकर ज़ोर-ज़ोर से अपने ज़ंग लगे कवच पर खुद ही अपनी गत्ते की तलवार भांजने लगते हैं और फिर अपने सांचो पांज़ाओं के सामने जाकर बताते हैं कि घनघोर युद्ध में उन्होंने विजय हासिल की है! क्योंकि यह जनाब यहां सफ़ेद झूठ बोल रहे हैं कि हमने इसका जवाब नहीं दिया है। हमने यह जवाब दिया था। इसे पढ़ें-

"वह हमारी आलोचना से बच निकलने के लिए हमारी अवस्थिति का एक पुतला खड़ा करते हैं। इसके लिए आधार बनाते हुए वह कहते हैं कि हमने “कॉरपोरेट के प्रवेश पर छोटी पूंजी के बर्बाद होने” पर ‘दुलमुल’ अवस्थिति रखी है। उनका दावा है कि हम कॉरपोरेट द्वारा ग़रीब किसानों की बर्बादी का स्वागत करते हैं। उनके अनुसार हमारा यह मानना है:

‘‘…according to them the corporate entry will help grow the productive forces in agriculture by helping the poor peasants and rural workers as against the rich peasants and thus will also help them abolish reaction, the bulwark of the bourgeois rule in rural India. They ‘truly’ say there is no ground, so to say, for a common ground of interests between rural poor and the rural rich peasants. But mind it. According to our ‘educators’, some commonalities do exist after all! If not between the rural poor and rich peasants as against corporates, then definitely between the Corporate and rural poor against rich peasants, as the former benefits the latter! This is undoubtedly a jewel of thought, but what does it mean? It means that they still see capitalism in general and capitalist farming in particular play a progressive role in India’s agriculture’’ *(वही)*

“जिसने भी खेती कानूनों और मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के बारे में हमारा लेखन पढ़ा है, वह जानता है कि यहां पीआरसी के लेखक महोदय सफेद झूठ बोल रहे हैं।

“हमने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि हमारी अवस्थिति क्या है और पीआरसी के लेखक महोदय यहां जानबूझकर हमारी अवस्थिति को विकृत करके पेश कर रहे हैं। हमारी अवस्थिति पिछले लेख में भी स्पष्ट की गई थी। हमारी ‘पद्धति’ को उजागर करने के नाम पर लेखक महोदय झूठ और बौद्धिक बेइमानी तक पर उतर आते हैं। *लेकिन ताज्जुब इस बात का है कि हमारी यह अवस्थिति है, इसे साबित करने के लिए जनाब लेखक ने हमारे एक उद्धरण को सन्दर्भ से काटकर पेश करने के अलावा हमें उद्धृत कर हमारी अवस्थिति कहीं रखने की ज़हमत ही नहीं उठाई* है! *उन्होंने केवल एक झूठी छवि खड़ी की है।* वह यह साबित करना चाहते हैं कि हम कृषि में कॉरपोरेट पूंजी के प्रवह श का समर्थन करते हैं और वह कहते हैं कि हम मानते हैं कि इसके ज़रिये ग्रामीण क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद की ज़मीन साफ़ होगी व पूंजीवादी विकास की जो ज़मीन तैयार होगी उसे हम क्रान्ति के लिए अनिवार्य मानते हैं! *ऐसा हमने कहां लिखा है, उसे उद्धृत करना पीआरसी के लेखक महोदय ने ज़रूरी नहीं समझा।*

“उनके अनुसार हम अर्थवादी हैं जो मौजूदा धनी किसान आन्दोलन का विरोध करते हैं, छोटे किसानों की तबाही पर खुश होते हैं और हमारे व कॉरपोरेट पूंजी व मोदी सरकार के बीच समान ज़मीन है। यह पुतला खड़ा करने के बाद लेखक अपने छिछले व्यंग्य के निरर्थक प्रयासों के ज़रिये अपनी भड़ास को हम पर निकालते हैं। इसके ज़रिये वह अपनी क्रान्तिकारिता सिद्ध करते हैं। वह कहते हैं :

‘‘So, if not between poor peasants and corporates as such, then their views (their defence of corporate and farm laws) certainly suggest a commonality of ground between them (their own group) on the one hand and the corporates and Modi government, on the other hand!’’ (What the new apologists of corporates are and how they fight against the revolutionaries, The Truth, Issue 11)

“तो यह हैं इनका सारगर्भित विश्लेषण! पाठक देख सकते हैं और आगे देखेंगे कि किस प्रकार लेखक हमारी अवस्थिति को तोड़ते-मरोड़ते हैं और एक पुतला खड़ा कर उसपर तीरंदाज़ी करते हैं। या कहें कि हमारे पटना के वामपंथी दोन किहोते पवनचक्की को ही शत्रु करार देकर हल्ला बोल देते हैं!

“हमने पीआरसी की जो आलोचना पेश की थी उसमें और उसके पहले खेती कानूनों के प्रश्न पर लिखे अपने तमाम लेखों में अपनी यह अवस्थिति स्पष्ट की है कि *हम कॉरपोरेट पूंजी के द्वारा छोटी किसानी की तबाही का समर्थन नहीं करते लेकिन हम कुलकों द्वारा छोटी किसानी के उजाड़े जाने और उनके शोषण-उत्पीड़न का समर्थन भी नहीं करते हैं। कॉरपोरेट पूंजी द्वारा छोटी किसानी की बर्बादी का विरोध सर्वहारा वर्ग और ग़रीब मेहनतकश किसान अपनी स्वतंत्र राजनीतिक ज़मीन से करेंगे न कि धनी किसानों की ज़मीन से, जो कि गांवों में उनके प्रमुख शोषक और उत्पीड़क हैं। इसलिए एक बार देख लेते हैं कि हमने क्या लिखा था, ताकि सनद रहे।*

“हमने लेखक महोदय के संगठन की आलोचना पेश करते हुए इन कानूनों और आन्दोलन पर अपनी अवस्थिति एक बार फिर स्पष्ट करते हुए इस लेख (पाठक इस लेख को मौजूदा लेख के शुरू में दिए गए लिंक पर जाकर पढ़ सकते हैं) में लिखा था कि:

“हमारा स्पष्ट तौर पर मानना है कि पहले दो कृषि क़ानूनों, यानी, फ़ार्मर्स प्रोड्यूस ट्रेड एण्ड कॉमर्स (प्रमोशन एण्ड फैसिलिटेशन) एक्ट 2020 और फ़ार्मर्स (एम्पावरमेण्ट एण्ड प्रोटेक्शन) एग्रीमेण्ट ऑन प्राइस अश्योरेंस एण्ड फ़ार्म सर्विसेज़ एक्ट, 2020, से सर्वहारा वर्ग, सीमान्त, छोटे और निम्न मँझोले किसान और खेतिहर मज़दूर की ज़िन्दगी पर सिर्फ़ इतना असर पड़ेगा कि पहले मुख्य रूप से धनी पूँजीवादी भूस्वामियों व पूँजीवादी फ़ार्मरों द्वारा उनका शोषण किया जाता था, और इन पहले दो क़ानूनों के लागू होने से उस शोषण में अब बड़े एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग यानी कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग की बढ़ती हिस्सेदारी का रास्ता साफ़ हो जायेगा। धनी किसानों–कुलकों, सूदख़ोरों (जो अक्सर स्वयं धनी किसान ही होते हैं!), आढ़तियों–बिचौलियों (जो अक्सर स्वयं धनी किसान ही होते हैं!) द्वारा पहले भी खेतिहर मज़दूरों की लूट, ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों की लूट और उनका उजड़ना जारी था।

“खेती के क्षेत्र में खेतिहर पूँजीपति वर्ग का वर्चस्व था और उजड़ने वाले अधिकांश ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों के उजड़ने का सबसे बड़ा कारण सूद, लगान और मुनाफ़े के ज़रिये खेतिहर पूँजीपति वर्ग (धनी किसान-कुलक वर्ग) द्वारा उनका शोषण ही था, यह बात तथ्यों से स्पष्ट है। कॉरपोरेट पूँजी के प्रवह श के बाद भी उनका शोषण पूर्ववत जारी रहेगा, हालाँकि उनके प्रमुख शोषकों की स्थिति में अधिक से अधिक बड़ा इजारेदार पूँजीपति वर्ग आता जायेगा। धनी किसान-कुलक वर्ग, सूदख़ोर, आढ़तिये खेती के क्षेत्र में बड़ी इजारेदार पूँजी के प्रवह श के विरुद्ध हैं और उन्हें मिलने वाले राजकीय संरक्षण, खेती में अपने आर्थिक वर्चस्व और एकाधिकार को बनाये रखना चाहते हैं। वर्तमान किसान आन्दोलन मुनाफ़े में अपनी हिस्सेदारी को सुनिश्चित करने के लिए धनी किसानों की लड़ाई है और इसलिए वह लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को क़ानूनी जामा पहनाने की माँग कर रहे हैं।’’ (वारुणी, *‘मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना’*)

“आप देख सकते हैं कि जिस प्रश्न पर हमारे लेखक महोदय हम पर “ढुलमुल” रवैया अपनाने का आरोप लगाते हैं उस पर हमने अपनी अवस्थिति एकदम स्पष्ट शब्दों में रखी है। कोई ठेस खाया हुआ पूर्वग्राहित मस्तिष्क ही इससे ऐसा कोई निष्कर्ष निकाल सकता है कि हम कारपोरेट पूंजी का समर्थन कर रहे हैं। उपरोक्त लेख में ही हमने लिखा था कि:

"एक पल को यह मान लेते हैं कि धनी किसानों–कुलकों, यानी खेतिहर पूँजीपति वर्ग के मुकाबले बड़ी इजारेदार पूँजी ग़रीब मेहनतकश किसानों को ज़्यादा तेज़ गति से उजाड़ेगी, तो भी इसका मतलब यह नहीं कि छोटे व सीमान्त किसान यह नारा दें कि हमें बड़ी पूँजी से नहीं बल्कि छोटी पूँजी से तबाह होना है! ग़रीब व मँझोले किसान अपनी बर्बादी के लिए ज़िम्मेदार बड़े एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग का विरोध छोटी पूँजी की ज़मीन से नहीं करेंगे बल्कि अपनी स्वतंत्र वर्गीय राजनीतिक अवस्थिति से करेंगे! लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बनाये रखने का मसला ग्रामीण पूँजीपति यानी धनी किसान–कुलक वर्ग और बड़े इजारेदार कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के बीच का विवाद है! इसमें खेतिहर मज़दूर, निम्न–मँझोले किसान व ग़रीब किसान और मज़दूरों को धनी किसान या कॉरपोरेट का साथ देने की न सिर्फ कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह नुकसानदेह है!'' (वही)

"मज़दूर वर्ग इस आन्दोलन में किस प्रकार हस्तक्षेप कर सकता है इस प्रश्न पर भी हमने बार-बार अपनी अवस्थिति साफ़ की है। हम इस प्रश्न पर भी उपरोक्त लेख से फिर अपनी अवस्थिति उद्धृत कर देते हैं :

"मज़दूर वर्ग इस आन्दोलन में एक ही रूप में हस्तक्षेप कर सकता है: *उसके बारे में सर्वहारा वर्गीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण पेश करके और उसके ज़रिये मज़दूर वर्ग और मेहनतकश किसान आबादी को इस बात के प्रति आगाह करके कि उसके वर्ग हित धनी किसानों के वर्ग हितों से बिल्कुल भिन्न हैं, ताकि आम मेहनतकश आबादी ग्रामीण पूँजीपति वर्ग से अलग अपने स्वतंत्र राजनीतिक संगठन और अवस्थिति को संघटित कर सके। दूसरी बात, इस आन्दोलन में अन्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप करके (यानी समर्थन करके) आम किसानों को मुक्ति का रास्ता नहीं दिखलाया जा सकता है, क्योंकि यह आन्दोलन आम किसानों (जिससे हम सीमान्त, ग़रीब और निम्न मँझोला किसान समझते हैं जो कि कुल किसान आबादी में 94 प्रतिशत के करीब है) के हितों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता है। इसका समर्थन करके अपने आपको कम्युनिस्ट कहने वाली ताक़तें वास्तव में आम किसानों को धनी किसानों-कुलकों का पिछलग्गू बने रहने और उनके राजनीतिक वर्चस्व के मातहत बने रहने का रास्ता दिखला रही हैं, न कि मुक्ति का। तीसरी बात, मौजूदा धनी किसान आन्दोलन भी न सिर्फ ''तुच्छ'' आर्थिक माँगों पर ही हो रहा है, बल्कि यह जनविरोधी ''तुच्छ'' आर्थिक माँगों पर हो रहा है।* ऐसे में, अगर धनी किसान-कुलक वर्ग कॉरपोरेट पूँजी के विरोध में मज़दूर वर्ग का समर्थन चाहता है, तो मज़दूर वर्ग ऐसे आन्दोलन के चार्टर में अपनी उन अहम आर्थिक माँगों को शामिल करने की शर्त रखकर अपनी स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति को रेखांकित करता है, न कि वह याचक बनकर दीन-हीन हो जाता है!" (सनी, **धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग**)

हमने यह बेहद लम्बा उद्धरण अपने पिछले लेख से इसलिए पेश किया कि पाठक देख सकें कि पटना के दोन किहोते सफेद झूठ बोल रहे हैं। हमने मास्टरजी के बेहूदा आरोप और तर्क का जवाब पहले ही दिया है। इसलिए हमने यहाँ अपनी पुरानी अवस्थिति ही दुहरा दी है।

"पूंजीवाद में कभी भी पूरी फसल नहीं ख़रीदी जा सकती है" के तर्क को ग़ायब किया मास्टरजी ने

पिछले लेख में दोन किहोते महोदय ने कहा था कि:

"So, finally it is a demand of guarantee of purchase by government/state for which government will have to depend on public finance which is already depleted to an extent that nothing is saved for the general people now. This will also be twice in favour of corporates. So even if we assume that government will accept this, the crisis of public finance and demand would blast the whole system hurting all very badly in its return, even peasants in many ways. So, it is clear that nothing very precious will come in the pocket of the peasants if the government accepts the demands. The whole exercise around MSP as a legal right or the demand of purchase guarantee goes against the laws of capitalist market. (What the new apologists of corporates are and how they fight against the revolutionaries, 'The Truth', Issue 11)

इसपर हमने निम्न आलोचना लिखी थी:

“हमारे पीआरसी के लेखक महोदय को लगता है कि केवल सर्वहारा राज्य ही किसानों को समूचे उत्पाद के ख़रीद की गारण्टी दे सकता है (हालंकि सोवियत समाजवाद के पूरे दौर में भी कभी भी सोवियत राज्य ने समूचा कृषि उत्पाद नहीं ख़रीदा था और न ही ऐसी कोई गारण्टी दी थी)। लेकिन राजनीतिक संकट के दौरों और आपात स्थितियों में और पूंजीपति वर्ग की तानाशाही के विशिष्ट रूपों के पैदा होने की सूरत में पूंजीवादी राज्य भी सारी फसल खरीद सकता है और इससे पूंजीवाद की सेहत पर कोई असर भी नहीं पड़ता है। तमाम युद्ध अर्थव्यवस्थाओं के दौरान पूंजीवादी देशों ने ऐसा किया है, तमाम बोनापार्तवादी पूंजीवादी सत्ताओं ने और निकोस पूलान्तज़ास के शब्दों में ”पूंजीपति वर्ग की तानाशाही के विशिष्ट रूपों” (exceptional forms of bourgeois dictatorship) वाले कई राज्यों ने भी मुक्त व्यापार व बाज़ार की व्यवस्था को अलग-अलग मात्रा में बाधित किया है और राजकीय इजारेदार पूंजीवाद को स्थापित किया है। (सनी, **धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग**)

अब इस बार इन्होंने बेशर्मी के साथ अपनी अवस्थिति बदल ली है और पूंजीवादी राज्य द्वारा समूची फसल खरीदने की बात मान ली है लेकिन इसे ऐसे पेश किया है कि जैसे यह इनकी स्वतंत्र अवस्थिति थी:

“How can such a State come to help farmers with the plan of purchasing their all produce, except in exceptional situation of continuous war and famine, and at a price that will guarantee according to them their minimum economic well-being, let alone maintaining a tribute? (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, The Truth Issue no. 12)

ऐसी धूर्तताएं, बेईमानियां, बातबदलूपन और चौर्य-लेखन मास्टरजी ने नये लेख में जमकर की हैं। यह तो महज़ एक मिसाल है, जो हमने ऊपर पेश की है।

कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया “वामपंथी” पत्रकार महोदय की नयी खोज, या, सिर के बल कैसे खड़े हों!

कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया बुद्धिजीवी महोदय ने अपने लेख के अन्त में लेनिन का एक उद्धरण पेश किया है। इसका विश्लेषण अभिनव ने एक फेसबुक पोस्ट में किया था; हम उस विश्लेषण को ही आपके बीच रख रहे हैं। लेकिन पहले यह देख लेते हैं कि हमारे सोशल मीडिया बुद्धिजीवी महोदय क्या कहते हैं:

"Lenin writes

“Capitalism would not be capitalism if the proletariat pur sang were not surrounded by a large number of exceedingly motley types intermediate between the proletarian and the semi-proletarian (who earns his livelihood in part by the sale of his labour-power), between the semi-proletarian and the small peasant (and petty artisan, handicraft worker and small master in general), between the small peasant and the middle peasant, and so on, and if the proletariat itself were not divided into more developed and less developed strata, if it were not divided according to territorial origin, trade, sometimes according to religion, and so on. From all this follows the necessity, ***the absolute necessity, for the Communist Party, the vanguard of the proletariat, its class-conscious section, to resort to changes of tack, to conciliation and compromises with the various groups of***

proletarians, with the various parties of the workers and small masters. *It is entirely a matter of knowing how to apply these tactics in order to raise—not lower—the general level of proletarian class-consciousness, revolutionary spirit, and ability to fight and win. Incidentally, it should be noted that the Bolsheviks' victory over the Mensheviks called for the application of tactics of changes of tack, conciliation and compromises, not only before but also after the October Revolution of 1917, but the changes of tack and compromises were, of course, such as assisted, boosted and consolidated the Bolsheviks at the expense of the Mensheviks.* __ ***The Communists' proper tactics should consist in utilising these vacillations, not ignoring them; utilising them calls for concessions to elements that are turning towards the proletariat—whenever and in the measure that they turn towards the proletariat—in addition to fighting those who turn towards the bourgeoisie***. *As a result of the application of the correct tactics, Menshevism began to disintegrate, and has been disintegrating more and more in our country; the stubbornly opportunist leaders are being isolated, and the best of the workers and the best elements among the petty-bourgeois democrats are being brought into our camp. This is a lengthy process, and the hasty "decision"— "No compromises, no manoeuvres"—can only prejudice the strengthening of the revolutionary proletariat's influence and the enlargement of its forces." (p.74-75, Volume 31 LCW*)

"Lenin as a true leader was capable of seeing things and their course of action in advance. That's why he proved himself an invincible leader who could always pave a new path to revolution if one is shattered or closed and didn't let slip any opportunity away that happened to come on his way. He said and did things which no one even imagined at that time. He didn't allow history to rule over him like heap of dead things. For him, history was like a living source of light and the rest depended upon the concrete analysis of prevailing concrete situations in the light of dialectical materialism. Lenin was best at this. He never missed the wood while counting the trees." (From MSP to Purchase gurantee, 'The Truth', Issue-12, Mukesh Aseem)

अभिनव ने अपनी पोस्ट में इसका निम्नलिखित जवाब दिया था, जिसे हम ज्यों-का-त्यों यहाँ पेश कर रहे हैं, क्योंकि मूर्खेश असीम अपनी पुरानी मूर्खता ही दुहरा रहे हैं:

"उपरोक्त उद्धरण में यह बात लेनिन द्वारा उन वामपंथी जिम्मरवाल्डियन प्रवृत्ति के लोगों के खिलाफ कही गयी थी जिनका मानना था कि 1916 में हुआ आयरिश कौम का विद्रोह एक मामूली तख्तापलट का प्रयास था, वह आम मेहनतकश किसानों के बीच आधार खो चुका था और अब वह महज़ एक टुटपुंजिया शहरी परिघटना मात्र बनकर रह गया था और इसलिए उसकी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को नकार रहे थे। लेनिन उनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि सामाजिक क्रान्ति की समूची ऐतिहासिक प्रक्रिया केवल मज़दूर वर्ग द्वारा किसी शुद्ध समाजवादी क्रान्ति में अपचयित नहीं की जा सकती है; लेनिन पहले बताते हैं कि विश्व पूंजीवाद, या साम्राज्यवाद, के विरुद्ध सामाजिक क्रान्ति में दमित कौमों के विद्रोह भी शामिल होंगे जो कि साम्राज्यवाद को कमज़ोर करते हैं; साथ ही, तमाम देशों में सर्वहारा क्रान्तियों में भी तमाम दमित, शोषित व असन्तुष्ट टुटपुंजिया आबादी व पिछड़े मज़दूरों द्वारा स्वत:स्फूर्त विद्रोह भी क्रान्तिकारी विस्फोटों में शामिल होंगे।

"इसका हमारे सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय सम्भवत: यह नतीजा निकालना चाहते हैं कि चूंकि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन में भी तमाम टुटपुंजिया तत्व शामिल हैं या यह आन्दोलन ही टुटपुंजिया वर्गों का है, इसलिए केवल इससे इसके वर्ग चरित्र या प्रतिक्रियावादी चरित्र का फैसला नहीं किया जा सकता है और यही वह आन्दोलन है जो कि पूरे पूंजीवाद पर हमला है और सर्वहारा क्रान्ति की तरफ जाएगा!

"लेकिन एक समस्या है। हमारे सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय को छोटे पूंजीपति वर्ग और टुटपुंजिया वर्ग के कुछ हिस्सों,

विशेषकर उसकी तलछट (petty-bourgeois slag), के बीच अन्तर नहीं पता है। निश्चित तौर पर, इतिहास में हुई सभी मज़दूर क्रान्तियों के उभार में तमाम प्रकार के पिछड़े मज़दूर, अर्द्धसर्वहारा (जो कि टुटपुंजिया तलछट में ही शामिल होता है), तमाम छोटे माल उत्पादक, व अन्य निम्न मध्यवर्गीय जनसमुदाय शामिल होते हैं; लेकिन किसी क्रान्तिकारी जनउभार को यही चीज़ क्रान्तिकारी नहीं बनाती है। बस यही बात हमारे सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय भूल गये। किसी क्रान्तिकारी जनउभार को क्रान्तिकारी उसका नेतृत्व, उसकी नीतियां व उसके कार्यक्रम का चरित्र बनाता है। सिर्फ टुटपुंजिया वर्गों के कुछ हिस्सों के शामिल होने से कोई आन्दोलन क्रान्तिकारी जनउभार नहीं बन जाता है, बल्कि हर क्रान्तिकारी जनउभार में अनिवार्यत: टुटपुंजिया वर्गों का एक हिस्सा व पिछड़े मज़दूर शामिल होते ही हैं। यह मार्क्सवाद का इमला है।

“यह भी याद रखना चाहिए कि जिस टुटपुंजिया तलछट की लेनिन बात कर रहे हैं, उसका वर्ग चरित्र ही ऐसा होता है कि उसके असन्तोष, नाराज़गी, मांगें हमेशा ही राजनीतिक रूप से अस्पष्ट (vague) होते हैं और इसलिए वह न सिर्फ क्रान्तिकारी जनउभारों में शामिल होता है, बल्कि वह प्रतिक्रियावादी व शोषक वर्गों के आन्दोलन में भी शामिल हो जाता है, चाहें वह व्यापारियों का एफडीआई के खिलाफ आन्दोलन हो, अण्णा हज़ारे का आन्दोलन हो, या फिर धनी किसानों-कुलकों का आन्दोलन हो। इसमें कोई नयी बात नहीं है।

“निम्न मध्य व मध्य-मध्यवर्ग, या मोटे तौर पर टुटपुंजिया वर्ग की ख़ासियत ही यही होती है। या तो उसके स्वत:स्फूर्त विस्फोट सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जाकर समाजवादी क्रान्ति की लहर का अंग बनते हैं, या वह बुर्जुआ नेतृत्व में जाकर प्रतिक्रिया का हिस्सा बनते हैं। टुटपुंजिया वर्गों का अपना कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं होता है, बल्कि महज़ एक कंजरवेटिव यूटोपिया होता है, जो कभी असलियत नहीं बन सकता है। यही कारण है कि टुटपुंजिया वर्गों के कुछ हिस्से अलग-अलग समय में जिस आवेग के साथ प्रगतिशील क्रान्तिकारी आन्दोलनों का हिस्सा बनते हैं, उसी आवेग के साथ वह प्रतिक्रिया का हिस्सा भी बनते रहे हैं। जिन्हें यह बात समझनी हो, वह कार्ल मार्क्स की युगान्तरकारी रचना 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50' पढ़ सकते हैं। टुटपुंजिया वर्गों की शिरकत अपने आप में किसी आन्दोलन का चरित्र नहीं तय करती, बल्कि पहले से निर्धारित चरित्र वाले आन्दोलन टुटपुंजिया वर्गों के स्वत:स्फूर्त उभारों को सहयोजित कर उनका चरित्र तय करते हैं। लुब्बेलुबाब यह कि हमारे सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय सिर के बल खड़े हैं।

“लेनिन निम्न उद्धरण में एक वामपंथी जिम्मरवाल्डियन प्रवृत्ति पर हमला कर रहे हैं, जिसमें निश्चित तौर पर एक लासालवादी तत्व भी है, जिसका मानना है कि सर्वहारा वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। मार्क्स और एंगेल्स ने और बाद में लेनिन, स्तालिन व माओ ने इस लासालपंथी प्रवृत्ति का विरोध किया था, जिसके बीसवीं सदी में असली वारिस लियॉन ट्रॉट्स्की थे। यहां लेनिन यह नहीं कह रहे हैं कि जिस भी आन्दोलन में टुटपुंजिया वर्गों के कुछ हिस्से शामिल होंगे, वह क्रान्तिकारी जनउभार होगा, बल्कि यह कह रहे हैं कि हर क्रान्तिकारी जनउभार में हमेशा ही पिछड़े मज़दूरों, अर्द्धसर्वहारा व टुटपुंजिया वर्गों के हिस्सों की भागीदारी होती है, मज़दूर वर्ग अकेले कोई शुद्ध-बुद्ध सामाजिक क्रान्ति नहीं करता है। लेकिन हमारे सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय का अतीत बेताल की तरह उनके कन्धे पर बैठा हुआ है और निगमनवादी (deductivist) त्रॉत्स्कीपंथी पद्धति उनका पीछा नहीं छोड़ रही है। मिसाल के तौर पर, उन्होंने लेनिन की इस बात से कि हर क्रान्तिकारी जनउभार में सर्वहारा वर्ग के अलावा टुटपुंजिया वर्गों के कुछ हिस्से भी भागीदारी करते हैं, यह निगमित (deduce) कर लिया कि जिस भी आन्दोलन में टुटपुंजिया वर्ग शामिल होंगे, वह क्रान्तिकारी जनउभार माने जाएंगे! लेनिन का उक्त उद्धरण यह है:

"Whoever expects a “pure” social revolution will never live to see it. Such a person pays lip-service to revolution without understanding what revolution is.

"The Russian Revolution of 1905 was a bourgeois-democratic revolution. It consisted of a series of battles in which all the discontented classes, groups and elements of the population participated. Among these there were masses imbued with the crudest prejudices, with the vaguest and most fantastic aims of struggle; there were small groups which accepted Japanese money, there were speculators and adventurers, etc. But objectively, the mass movement was breaking the back of tsarism and paving the way for democracy; for this reason the class-

conscious workers led it.

"The socialist revolution in Europe cannot be anything other than an outburst of mass struggle on the part of all and sundry oppressed and discontented elements. Inevitably, sections of the petty bourgeoisie and of the backward workers will participate in it謡ithout such participation, mass struggle is impossible, without it no revolution is possible預nd just as inevitably will they bring into the movement their prejudices, their reactionary fantasies, their weaknesses and errors. But objectively they will attack capital, and the class-conscious vanguard of the revolution, the advanced proletariat, expressing this objective truth of a variegated and discordant, motley and outwardly fragmented, mass struggle, will be able to unite and direct it, capture power, seize the banks, expropriate the trusts which all hate (though for difficult reasons!), and introduce other dictatorial measures which in their totality will amount to the overthrow of the bourgeoisie and the victory of socialism, which, however, will by no means immediately 菟urge • itself of petty-bourgeois slag." (Lenin, 'The Discussion on Self-Determination Summed Up') • (अभिनव, **सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय की नयी खोज**, **या**, **सिर के बल कैसे खड़े हों**!) लिंक: https://www.facebook.com/abhinav.disha/posts/3934624246622018

यह है पीआरसी के *माटसाब के माटसाब* मूर्खेश असीम जी की असीम मूर्खता का एक और उदाहरण।

मास्टरजी द्वारा तमाम प्रश्नों पर साधी गयी रहस्यमय चुप्पी

ये निम्नलिखित सवाल हैं जिनपर हमारे द्वारा आलोचना होने के बाद मास्टरजी ने बेशर्म चुप्पी साध ली है। वह यह भी नहीं बताते हैं कि वह इन आलोचनाओं से सहमत है या असहमत, बस इन परेशान कर देने वाले तथ्यों और तर्कों को इन्होंने अवसरवादी तरीक़े से कालीन के नीचे दबाने का प्रयास किया है:

-"राजनीतिक" तौर पर सोचने के नाम पर दोन किहोते द्वारा कुलकों की पूंछ पकड़ने की कार्रवाई पर हमारे द्वारा की गई उनकी आलोचना पर यह जनाब शांत हो गए हैं।

-मास्टरजी द्वारा आय के आधार पर धनी किसान-कुलक वर्ग की समाजशास्त्रीय परिभाषा पर हमारे द्वारा प्रस्तुत की गयी आलोचना पर वह कुछ कहना ज़रूरी नहीं समझते हैं या फिर अब उनके पास कहने के लिए कुछ बचा नहीं है।

-धनी किसान आन्दोलन के "अन्तर्य" और "बाहरी खोल" में फर्क पर पुन: धनी किसान आंदोलन की पूंछ पकड़ने की मास्टरजी की धूर्तता को उजागर करने के बाद भी इनके द्वारा इस मसले पर एक अवसरवादी चुप्पी अख्तियार कर ली गयी है।

-छोटी पूँजी, जिसमें कि धनी किसानों-कुलकों का वर्ग भी शामिल है, के बड़ी पूंजी के समक्ष प्रतिस्पर्धा में पिटने की सूरत में सरकार से संरक्षण मांगने की प्रवृत्ति पर हमारे द्वारा उठाये गए प्रश्नों पर मास्टरजी एकदम चुप हैं।

-पिछले कई सालों से जारी विकिसानीकरण की परिघटना पर जिसका ज़िम्मेदार कुलक और धनी किसान वर्ग है- हमारे द्वारा यह तथ्य सामने रखने के बाद भी मास्टरजी इस प्रश्न पर मौन धारण किये हुए हैं।

-हमारे द्वारा सोवियत समाजवादी 'प्रयोग' कहने पर मास्टरजी द्वारा इसे समाजवाद की महानता को कमतर करके देखने के आरोप के जवाब में

हमारे द्वारा पेश सोदाहरण प्रत्यालोचना पर खामोशी धारण की ली गयी है।

-चार्ल्स बेतेलहाइम के समर्थक होने के मास्टरजी के आधारहीन आरोप पर हमने विस्तृत जवाब दिया था, उस पर भी उन्हें सांप सूंघ गया है। शायद इसलिए कि खुद मास्टरजी की अवस्थिति बेतेलहाइम की भाववादी दक्षिणपंथी अवस्थिति से भी गई-गुज़री है। बेतेलहाइम का दावा था कि समाजवादी कार्यक्रम पर समूची मंझोली किसानी (उच्च मध्यम किसान समेत) को सहमत किया जा सकता है, जिसकी हमने आलोचना पेश की है, लेकिन मास्टरजी उससे भी आगे जाते हुए दावा करते हैं कि धनी किसानों-कुलकों को भी सामूहिकीकरण और समाजवादी कार्यक्रम पर प्यार से समझा-बुझाकर राज़ी किया जा सकता है! ऐसे दावे पर तो बेतेलहाइम भी शर्मा गया होता!

-हमारे द्वारा मास्टरजी से यह पूछे जाने पर कि धनी किसान आंदोलन में "समूची उपज की खरीद की गारण्टी" की मांग आंदोलन में कहां उठी है, पर भी यह महोदय बिलकुल चुप हैं और अभी भी उस बात को एक आकाशवाणी समान सत्य बात मान रहे हैं, जिसे कि उन्हें साबित करना था, जबकि हाल ही में धनी किसानों-कुलकों ने पूरे देश में लाभकारी मूल्य और उससे भी ऊंची कीमतों पर निजी ख़रीदारों को जमकर बिकवाली की है।

- मास्टरजी का दावा कि कुल उपज की खरीद की मांग पूंजीवाद का अतिक्रमण करती है पर हमारे द्वारा इसका खण्डन किये जाने के बाद भी वह इस प्रश्न पर खामोश हैं और कसमसा-कसमसाकर चोरी से अपनी लाइन बदलने की फिराक में हैं।

- मास्टरजी के इस दावे की, कि उन्होंने सोवियत समाजवाद के इतिहास और मार्क्सवादी कृषि प्रश्न का अपने लेख में ज़िक्र तक नहीं किया है, हमारे द्वारा उन्हें ही उद्धृत करके की गयी आलोचना और खण्डन पर भी वह मौन हैं।

-लाभकारी मूल्य समाज से वसूला जाने वाला 'ट्रिब्यूट' है और एक प्रतिक्रान्तिकारी मांग है- हमारे द्वारा प्रस्तुत इस अकाट्य तर्क पर मास्टरजी का डब्बा गोल हो गया है और उन्हें कुछ नहीं समझ आया है तो उन्होंने बिना सोचे-समझे यह तर्क चुरा लिया है, उसकी औपनिवेशिक लूट से बेमानी तुलना की है, और फिर कुलकों की गोद में बैठकर यह बेजा डर पैदा करने की कोशिश की है कि इजारेदार कम्पनियां लाभकारी मूल्य से भी ज़्यादा 'ट्रिब्यूट' वसूलेंगी। इन मूर्खतापूर्ण बातों का हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं।

-कृषि के दो चरण एक "सामान्य पूंजीवादी खेती" और एक "इजारेदार खेती" के मास्टरजी के इस बोगस बँटवारे पर हमारे द्वारा पेश किये गए खण्डन पर इन साहब को सनाका मार गया है। इस पर उन्होंने कोई बात ही नहीं की है।

-अपने पिछले लेख में *माटसाब* ने दावा किया था कि सोवियत राज्यसत्ता समूचा कृषि उत्पाद ख़रीदती थी, जिसका हमने आंकड़ों समेत खण्डन किया था। इस खण्डन पर *माटसाब* चुप्पी साधे हुए हैं।

-अपने पिछले लेख में *माटसाब* ने दावा किया था कि कोलखोज़ बाज़ार में निजी व्यापारी सक्रिय थे, जिसका हमने खण्डन करते हुए बताया था कि सामूहिकीकरण के बाद कोलखोज़ बाज़ार में निजी व्यापारियों का कोई वर्ग नहीं था। इस पर भी *माटसाब* को सनाका मार गया है।

ये उन मुद्दों के बस चंद कुछ उदहारण हैं जिनपर कि मास्टरजी ने मौन-व्रत धारण कर लिया है।

निष्कर्ष

हमारी आलोचना के जवाब में लिखे गए बौखलाहट भरे मौजूदा लेखों में पटना के दोन किहोते महोदय और उनके "ग्रेट टीचर" उर्फ़ कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया "वामपंथी" पत्रकार मूर्खेश असीम ने पुराने लेखों में परोसी गयी मूर्खताओं, ग़लतबयानियों, झूठों और चौर्य लेखन की खिचड़ी

को अक्टूबर क्रान्ति व भारतीय कृषि के इतिहास के विकृतिकरण के ज़रिये ऐतिहासिक प्रामाणिकता दिलाने की असफल कोशिश की है व पुन: कई सवालों पर नये मूर्खतापूर्ण मूल्यांकन पेश किए हैं। कुल मिलाकर कहें तो मास्टरजी ने धनी किसान आंदोलन की पूंछ पकड़ने के लिए पहले जो (कु)तर्क दिए थे अब वे उनकी गले की फांस बन गए हैं, जो ना तो उनसे निगलते बन रहे हैं और न उगलते। यही कारण है कि अब उन (कु)तर्कों को सही साबित करने के लिए झूठ बोलने, अंतहीन कुतर्क करने, इतिहास का विकृतिकरण करने से लेकर गाली-गलौच और कुत्साप्रचार करने तक वे हर चाल अपना रहे हैं। केवल मार्क्सवादी विश्लेषण ही उनके लेख में दिखलाई नहीं देता है। हमारी सलाह होगी कि बदहवासी और बौखलाहट में इधर-उधर भागने और उछल-कूद मचाने से बेहतर है कि मास्टरजी ईमानदारी से नंगे शब्दों में धनी किसानों-कुलकों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर कर दें या ईमानदारी से अपने छात्रों के सामने अपनी प्रचण्ड मूर्खताओं पर अपनी आत्मालोचना पेश कर दें। ऐसा करने से उन्हें यक़ीनन कम तक़लीफ़ होगी!

(इस लेख का परिशिष्ट कुछ ही दिनों में अपलोड किया जाएगा, जिसमें माटसाब ने 'दि ट्रूथ' से 'यथार्थ' तक जाने में किस प्रकार अपना दिमागी सन्तुलन खोया है, इसे प्रदर्शित किया जाएगा)